श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ८५

महर्षिप्रवरपतञ्जलिप्रणीतं

योगसूत्रम्

पण्डितबलदेवमिश्रकृतया
सटिप्पण्या योगप्रदीपिकाख्यविवृत्या समन्वितम्

डा० महाप्रभुलालगोस्वामिकृतया
विस्तृतहिन्दीभूमिकया समेतम्

चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

८५



महर्षिप्रवरपतञ्जलिप्रणीतं

योगसूत्रम्

पण्डितबलदेवमिश्रकृतया

सटिप्पण्या योगप्रदीपिकाख्यविवृत्या समन्वितम्

न्यायाचार्य पं० दुण्ढिराजशास्त्रिणा

निध्याय संशोधितम्

डा० महाप्रभुलालगोस्वामिकृतया

विस्तृतहिन्दीभूमिकया समेतम्



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४१

मूल्य : रु० २५-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
85
*****

YOGASŪTRAM

BY

MAHARṢĪ PATAÑJALI

With
The Yogapradīpikā Commentary

By

PANDIT BALADEWA MIŚRA

Edited By

PANDIT DHUṆḌHIRĀJ ŚĀSTRĪ

A Critical and Comparative Introduction in Hindi by

Dr. MAHĀPRABHU LĀLA GOSWĀMI

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139
Jadau Bhawan, K. 37/119, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Second Edition : 1984

Price : Rs. 25-00

Also can be had of

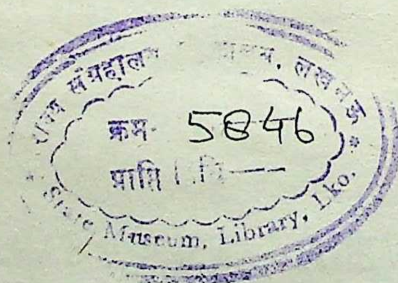
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444



प्राक्कथन

डॉ० महाप्रभुलालगोस्वामी
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय,
वराणसी

योग

समाध्यर्थक युज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय कर योगशब्द निष्पन्न होता है—युज्यते अनेन इति योगः; कुछ आचार्यों ने अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर युज्यते अस्मिन् इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है। इसी लिये योग और समाधि को अपर पर्याय माना गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है। "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः"। महाभारत के अनुसार—परब्रह्म के साथ एकत्व ही योग है। इस विश्लेषण के अनुसार परमात्मा और आत्मा का ऐक्यस्वरूप योग साध्य है, इसको समाधि कहा जा सकता है, जो योग का साध्य है। क्योंकि जैसे—जल और लवण का संयोग से ऐक्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि कहा जाता है।

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते॥

योग और समाधि व्युत्पत्ति के भेद से साधन और साध्य उभय रूप में व्यवहृत होता है। योगभाष्य में व्यास ने 'घृत ही आयु है' इत्यादि व्यवहार के समान उपकार्य और उपकारक रूप में अङ्ग और अङ्गी में अभेद की विवक्षा होने से योग और समाधि को अपर पर्याय माना है। जिससे चित्त को एकाग्र किया जाता है, इस रूप में करण साधन समाधि शब्द को मान कर योगाङ्ग अर्थ को समाधि शब्द कहता है "समाधीयते = एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन" इति समाधिः"। जिस अवस्था विशेष में प्राण आदि वृत्तियों का अवरोध होता है, उसको समाधि कहा जाता है। इस अधिकरण साधन योग में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों का ग्रहण हो जाता है।

योग दर्शन में अपरिणामी कूटस्थ नित्य चिति शक्ति है, पुरुष शब्द से निर्दिष्ट यह ज्ञान का धर्म नहीं है। बुद्धि = चित्त की परिणामात्मक ज्ञान रूप राजस तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है। विक्षिप्त चित्त के द्वारा ऐसा नहीं

किया जा सकता है, अतः राजस तामस वृत्ति को छोड़कर केवल सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए, सात्त्विक वृत्ति के दृढ़ होने पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए इस अवस्था में योग्यता की सम्प्राप्ति होती है, उसकी दृढ़ता की अवस्था होने पर निरोध का अभ्यास सम्भव होता है और निरोध स्थिर होने पर असम्प्रज्ञात योग तक होता है। दूसरे रूप में यह अष्टाङ्ग योग है। यह समाधि मधुमती, मधुप्रतीका विशोका और संस्कारशेषा के भेद से चित्त की चार भूमियों वाली हैं। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति, और स्थिति-शील के कारण त्रिगुणात्मक है। प्रख्या तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान से उपलक्षित प्रसन्नता, लघुता प्रकाशकत्व आदि सात्त्विक गुण होते हैं। प्रवृत्तिशील होने से शोक, दुःख आदि राजस गुण होते है। प्रवृत्ति-विरोधिनी स्थिति-शील तमोगुण होने से गुरुता, आवरण दैन्य, निद्रादि तामस होते है। चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों की विचित्रता के कारण विचित्र परिणाम सम्पन्न होता हुआ पाँच अवस्था वाला होता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ है। रजोगुण के कारण विषयों में क्षिप्यमाण = अस्थिर क्षिप्त अवस्था है। क्षिप्त चित्त दैन्य, दानव, मद-भ्रान्त विषयी पुरुषों का रहता है। तमोगुण के आधिक्य होने से निद्रा आदि वृत्तियों से मूढ़ चित्त, राक्षस, पिशाच एवं मादक द्रव्यों के सेवन से उन्मत्त विवेक शून्य व्यक्तियों का रहता है। क्षिप्त से विशिष्ट अस्थिरता-बहुल अर्थात् कभी स्थिरता कभी अस्थिरता यह अवस्था स्वाभाविक या व्याधि आलस्य भय आदि से उत्पन्न होती है। ऐसा चित्त ब्रह्मज्ञान इच्छा रखनेवाले एवं विवेकी पुरुषों का चित्त होता है। एकाग्रता = एकतानता है। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार मात्र शेष चित्त निरुद्ध होता है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्था में योग की सम्भावना नहीं है। विक्षिप्त हृदय में कभी समाधि हो भी सकती है, परमार्थ विषयक चित्त की स्थिरता योगपक्ष में नहीं हो सकती है, अतः समाधिविशेष के कारण गौण रहती है। यह क्लेशादि की निवृत्ति में सक्षम नहीं है। कुछ क्षणों के लिए जो तप्त बीज हैं, उनमें अंकुर के उत्पादन की क्षमता रहती है। एकाग्र चित्त में सम्यक् प्रतिष्ठित परमार्थभूत अर्थ का प्रकाशन अर्थात् साक्षात्कार होता है, वह पंचविध क्लेशों की उत्पत्ति कराकर कर्मरूप बन्धन शिथिल करता हुआ अदृष्ट पापपुण्य के उत्पादन में अक्षम होता है एवं निरोध की ओर अभिमुख रखता है—वह सम्प्रज्ञात योग है। चित्त की सत्त्ववृत्ति के द्वारा सम्वेदन योग्य विषयों का सम्यक् साक्षात्कार जिस अवस्थाविशेष में होता है—वह सम्प्रज्ञात ही अर्थात् अच्छी तरह संयम विपरीत अनिश्चित रहित होने से प्रकृष्ट रूप से भाव्य स्वरूप का ज्ञान, जिस भावना विशेष से, जिस अवस्था में होता है, वह सम्प्रज्ञात है।

भावना से तात्पर्य अन्य विषयों को छोड़कर पुनः-पुनः चित्तवृत्ति-सन्निवेश है।

सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है—

(१) वितर्कानुगत।

(२) विचारानुगत।

(३) आनन्दानुगत।

(४) अस्मितानुगत।

(१) पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय मूर्ति में चित्त की उस साक्षात्कार विषयक प्रज्ञा वितर्क है, स्थूल विषयक होने से यह स्थूल है।

(२) चित्त के आलम्बन सूक्ष्म शरीर में स्थूल कारणीभूत सूक्ष्म तन्मात्र लिङ्ग अलिङ्ग विषयक साक्षात्कार विचार है।

(३) इन्द्रिय में स्थूल आलम्बन में चित्त का साक्षात्कार आह्लादात्मक है, प्रकाशशील होने से एवं सत्त्व का प्राधान्य रहने से अहङ्कार से इन्द्रियों की सत्त्व प्रधान उत्पत्ति है, अतः वे सुखात्मक हैं।

(४) ग्रहीतृ-विषयक सम्प्रज्ञातस्वरूप एकात्मक ज्ञान अस्मिता है।

योग का फल और साधन

सभी वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष की उपाधि रहित अपने चैतन्य में अवस्थिति होती है। यह सत्य है कि चिति शक्ति व्युत्थान अवस्था में अपने कूटस्थ स्वरूप को नहीं छोड़ती है, किन्तु असम्प्रज्ञात रूप होने से प्रकाशित नहीं होती है। पुरुष चेतन स्वरूप असङ्ग है, यह प्रकाश स्वरूप एवं ज्ञानमय है, प्रकाश और ज्ञान उस निर्गुण का धर्म नहीं है। सभी धर्मों से रहित होने पर बुद्धि वृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण भ्रमवश बुद्धि के धर्मों का पुरुष पर आरोप होता है। वस्तुतः पुरुष, बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि परिणामी है और बुद्धि का विषय ज्ञात और अज्ञात हो सकता है। जिस वस्तु के आकार में बुद्धि का परिणाम है, वह ज्ञात होता है और अन्य अज्ञात रहता है। पुरुष का परिणाम न होने पर भी प्रतिबिम्ब-पात के कारण बुद्धि की वृत्तियों को जान पाते हैं। बुद्धि दूसरे के लिए है। क्लेश, कर्म, वासना, विषय, इन्द्रिय आदि के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य सिद्ध करती है, क्योंकि संहत्यकारी अर्थात् अन्य से मिलकर जो कार्य करता है, वह दूसरे के प्रयोजन का साधक होता है। संहत्यकारी न होने से असङ्ग पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। शान्त, घोर और मूढ़ के रूप में सभी वस्तुओं के आकार में बुद्धि परिणत होती है एवं ज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन

और ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता और चेतन है। पुरुष स्वतन्त्र है, बुद्धि पुरुष के अधीन है, पुरुष द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है। अचेतन बुद्धि पुरुष के सम्बन्ध से चेतन के समान प्रतीयमान होती है। व्यास एवं पतञ्जलि तथा वाचस्पति मिश्र ये तीनों ही पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं।[१]

पञ्चशिखाचार्य भी बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। पुरुष चेतन, अपरिणामी, प्रतिसम्भरण शून्य है, बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। पुरुष विषयाकार में परिणत नहीं होता है। विषयाकार परिणत बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और भ्रमवश बुद्धि के धर्मों को पुरुष अपना धर्म समझा करता है। योगभाष्यकार ने इस मत को उद्धृत किया है।[२]

व्यासदेव ने भी कहा है, जय या पराजय सैनिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु राजा में उसका आरोप होता है और राजा की जय या पराजय कही जाती है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है, इसी प्रकार पुरुष का सुख आदि का साक्षात्कार रूप भोग एवं दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग बुद्धिकृत होने से बुद्धि में ही वर्तमान रहता है, पुरुष में वे आरोपित हैं। पुरुष उस फल का भोक्ता नहीं है। पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण नहीं करता है. अपि तु प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है। पुरुष का यह भोग वास्तविक नहीं है, आपाततः प्रतीयमान है।

व्योमवती में एक कारिका उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि विषय सम्बद्ध इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति होती है, क्रमशः बुद्धि उस विषयाकार में परिणत इन्द्रिय के रूप को प्राप्त करती है। इसी स्थिति में सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है, सत्त्वगुण की प्रबलता से बुद्धि स्वच्छ रहती है, और इस अवस्था में बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, कलुषित में नहीं। इसी प्रकार सत्त्वप्रधान बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तमः प्रधान में नहीं पड़ता है।[३] पुरुष

१. पा० योगभाष्य २।२०

२. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तः चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुमात्रतया बुद्धिवृत्त्यवशिष्टो हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। —पञ्चशिख० योग० भा० २।२८।२, यो० भा० २।१८

३. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ५२१।

में स्वाभाविक भोग मानने पर पूर्व स्वरूप की निवृत्ति और अन्य स्वरूप प्रतिरूप परिणामित्व का प्रसङ्ग नहीं है।

बौद्ध दर्शन में चित्त अर्थात् बुद्धि से पृथक् पुरुष का अस्तित्व नहीं माना जाता है। योगदर्शन में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा गया है कि विभिन्न वासनाओं के द्वारा चित्रीकृत चित्र दूसरे के भोग और अपवर्ग के लिए ही है अपने लिए नहीं है। चित् का कार्य अनेक अङ्गों से साध्य होने से संहत रूप है। संहत्यकारी संहत स्वरूप दूसरे के उपकार की सिद्धि के लिए होता है, जैसे अनेक उपादानों से रचित गृह दूसरे के भोग के लिए ही वर्तमान है। भोग्यचित् चित् के भोग के लिए नहीं है, इसी प्रकार अपवर्ग चित् भी चित् के अपवर्ग के लिए नहीं है, वह दूसरे के लिए ही है। चित् जिसके उद्देश्य का साधन करता है, वह असंहत पुरुष है। पुरुष ही चित् के द्वारा उपस्थित सुख-दुःख का भोग करता है। ज्ञान पुरुष के लिए ही अभिप्रेत है। ज्ञान ही पुरुष की मुक्ति का साधन करता है। इस प्रकार चित् पुरुष का ही भोग और अपवर्ग का साधन करता है। बौद्ध-गण द्रष्टा, ज्ञाता और भोक्ता का पृथक् अस्तित्व भले ही न माने किन्तु ज्ञेय से ज्ञाता का, दृश्य से द्रष्टा का, भोग्य से भोक्ता का पृथक् अस्तित्व उन्हें मानना ही पड़ेगा।[1]

अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति मानी गई है। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी चेतन है। अदृष्ट के अधीन पुरुषों के सान्निध्यवश प्रकृति की साम्यावस्था समाप्त होती है। अयस्कान्तमणि जिस प्रकार सान्निध्य वश ही लोहे के काँटे को निकाल लेता है, किन्तु स्वयं स्थिर रहता है, पुरुष भी इसी प्रकार स्वयं स्थिर रहते हुए भी केवल सामीप्य के कारण प्रकृति को कार्योन्मुख करता है। प्रकृति का सत्त्व-बहुल प्रथम परिणाम महत् = चित् तत्त्व है। किन्तु यह परिणाम उद्देश्यमूलक है। इसमें दो उद्देश्य है, एक प्रकृति पक्ष में और दूसरा पुरुष पक्ष में। प्रकृति पुरुष की भोग सामग्री के रूप में जब परिणत होती है, तब प्रकृति सम्बन्धी उद्देश्य की सिद्धि होती है, प्रकृति सुख-दुःख मोहात्मिका है। इस दुःख-सुख का अनुभव न होने पर इसकी त्रिगुणात्मकता विफल होगी। भोक्ता के विना भोग्य निरर्थक है। भोक्ता की अपेक्षा कर ही भोग्य है। अतः भोग्य प्रकृति भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती है। पुरुष असङ्ग मुक्त स्वभाव है। इसलिए मुक्ति के लिए पुरुष अपेक्षा करता है। मुक्त स्वभाव भी पुरुष अविवेकवश प्रकृति के साथ सर्वथा संयुक्त होता है। प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के दुःखत्रय को अपने ऊपर आरोपित करता है।

---

१. योगभा० पृ० ४।२४

दुःख ज्वाला से सन्तप्त पुरुष इनके आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना करता है। आत्यन्तिक रूप में दुःखत्रय निवृत्ति रूप कैवल्य के लिए सत्त्व पुरुष का भेद ज्ञान अर्थात् विवेकज्योति अपेक्षित है। इस विवेकख्याति के साधन के लिए बुद्धि = चित् की अपेक्षा है, विना उसके ज्ञान सम्भव ही नहीं है। साम्यावस्थापन्न प्रकृति का भोग सम्भव नहीं है, वह अव्यक्त है। क्योंकि पुरुष और महत् तत्त्व के विना भोग अपवर्ग सम्भव ही नहीं है।

जीव के विचित्र कर्मकलाप ही प्रकृति के विचित्र परिणाम का कारण है। प्रकृति जीवन का उपादान कारण और जीव का धर्म, अधर्म निमित्त कारण है। प्रकृति के साथ पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। प्रकृति के एक होने पर भी पुरुष के विविध कार्य के लिए विचित्र सृष्टि करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध जगत् की निष्कारण सृष्टि मानकर खरहे की सींग के समान अलीक नहीं माना जा सकता है। अपरिणामी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि, ब्रह्म अपरिणामी है, अतः जगत् के रूप में उसका परिणाम सम्भव नहीं है। ईश्वरकर्तृक प्रकृति का महत्तत्त्व आदि के रूप के परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि, क्लेश कर्म विपाक आशय से अपरामृष्ट पुरुष विशेषरूप ईश्वर सभी व्यापारों से रहित है, और अधिष्ठान व्यापार शून्य ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है।

अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति कैसे सम्भव है? यह आपत्ति भी ठीक नहीं है। गौ के स्तन्य की वृद्धि और उससे दूध का क्षरण होता है। अतः स्तन की प्रवृत्ति है, वह चेतन नहीं है। गौ के चेतन रहने पर भी स्तन की प्रवृत्ति गौ की प्रवृत्ति के आधीन नहीं है। गौ की प्रवृत्ति होने पर भी बहुधा स्तन की वृद्धि और दूध का क्षरण नहीं होता है। स्तन दूध की प्रवृत्ति का कारण वत्स पोषण है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी पुरुष के मोक्ष और भोग के लिए प्रवृत्ति सम्भव है, अतः प्रकृति का महत् तत्त्व के रूप में परिणाम होता है।

योग और चरकसंहिता—चरकसंहिता के अनुसार एक धातुक, षड् धातुक एवं चतुर्विंशतिक-इस प्रकार त्रिविध पुरुष का निर्देश मिलता है। चरक मत में आत्मा अनादि, अनन्त और शाश्वत है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह परमात्मा है।[1] सृष्टि के आरम्भ में वे वर्तमान थे। यह व्यक्त, अव्यय सर्वव्यापक अचिन्तनीय है। शुद्ध चिन्मय अद्वितीय एक होते हुए भी सभी प्राणियों के चैतन्य का शरण है। अन्तरात्मा के रूप में शरीर में वह अवस्थित

१. प्रभवो न विचते ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः। च० शा० १।५३

रहताहै । शरीर में अवस्थित होने के कारण ब्रह्म की पुरुष संज्ञा है । जीवात्मा के रूप में अनेक होते हुए भी परमात्मा के रूप में एक है। रजोगुण और तमोगुण के कारण देह कोष में जब तक आबद्ध रहता है—तब तक वह बद्ध ही जीव के कर्मों से उत्पन्न देह की असंख्यता के कारण जीवात्मा असंख्य है । किन्तु मुक्त अवस्था में ब्रह्म रूप में अवस्थान करता है, अतः परं ब्रह्मभूतो जीवात्मा नोपलभ्यते (च० शा० १।१५५) चरक और योग में समन्वय होने पर भी आत्मा को ब्रह्म स्वरूप कहा हैं । यह पुरुष बहुत्व ब्रह्म की प्रतिमूर्ति स्वरूप है । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[1] इस योगसूत्र के अनुसार कोई भेद नहीं है । पञ्च महाभूत के साथ सम्मिलित चिन्मय आत्मा षड्धातुमय पुरुष के रूप में वर्णित हैं ।[1]

चरक के प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चभूत एवं पञ्च-तन्मात्र या पञ्चविषय के समवाय को चातुर्विंशतिक पुरुष माना है । प्रकृति ओर विकृति वर्ग को लेकर वह कहा गया है ।

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम् ।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥ (च० शा० १।३५)

यह राशि पुरुष का जीवन-मरण होने से यह चिकित्सा के योग्य है । क्योंकि, निर्विकार आत्मा चिकित्सा के योग्य नहीं है । यह ज्ञातव्य है कि महा-भारत में भी स्थूल देह के अर्थ में राशि शब्द का प्रयोग किया गया है । चरक संहिता में प्रकृति जात तत्त्वसमूह क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ के नाम से कहा जाता है । क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का अनादि और अनन्त सम्बद्ध माना गया है । तमोगुण और रजोगुण की प्रबलता के कारण प्रकृति के साथ आत्मा का सम्बन्ध अविच्छिन्न भाव से चलता है । सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर तत्त्व-ज्ञान के उत्पन्न होने पर संसार के कारण रजोगुण और तमोगुण का विलय होने पर विवेक ज्ञान वश आत्मा की मुक्ति होती है ।[2] भोगतृष्णा ही शरीर की उत्पत्ति का साधन है । भोगतृष्णावश धर्माधर्म का अर्जन कर एवं उसके फलभोग के लिए शरीर ग्रहण करता है । भोगवासना का नाश होते ही जीव

---

१. स्वादयश्चेतना षष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः । च० शा० १।१६
चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या में कहा है—अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतचिकि-त्साविषयः पुरुषः ।

२. रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते ॥ च० शा० १।३६

का किसी भी विषय में राग और द्वेष नहीं रहता है, फलतः कर्म में प्रवृत्ति न होने से धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है। भोग के द्वारा आबद्ध कर्म का क्षय होने पर वितृष्ण व्यक्ति का शरीर नाश होने पर मुक्ति होने से पुनः संसार में आगमन नहीं होता है। अविवेक के कारण सुखदुःख आदि का आत्मा में आरोप होता है।

आत्मा के ज्ञाता होने पर भी सभी समय सभी विषयों का ज्ञान उसको नहीं रहता है। मन, बुद्धि और इन्द्रिय के साथ संयोग के फलस्वरूप ही ज्ञान प्रवर्तित होता है। कारण समूह के मलिन होने पर अथवा उनके साथ संयोग के अभाव में ज्ञान नहीं होता है। डा० दासगुप्ता ने भी आत्मा में ज्ञान की विद्यामानता नहीं मानी है। मन और ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से ही ज्ञान होता है।[1] करण समूह के साथ योग होने से कर्म और बन्धन एवं योग के अभाव में कर्म निवृत्ति और मुक्ति होती है। वस्तुओं की उत्पति के लिए कारण की आवश्यकता होती है, कारण और सहकारी के विना एकाकी वह कार्य के सम्पादन में असमर्थ रहता है। अविवेकवश कारण समूह के साथ आत्मा का संयोग स्थापित होता है। ज्ञाता ही साथी होता है। आत्मा ज्ञाता होकर साक्षी के रूप में अवस्थित है। भूत समुदाय उसके द्वारा परिदृष्ट होता रहता है। आत्मा चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है, मन अचेतन होते हुए सक्रिय है। आत्मा के साथ वियुक्त होने में गति नहीं होती है, मन की क्रिया की ही आत्मा का क्रिया के रूप में भ्रान्ति है। चिन्मय पुरुष के अधिष्ठान के फलस्वरूप मन की क्रिया परिलक्षित होती है और आत्मा कर्ता होता है। वस्तुतः आत्मा निष्क्रिय है। मन सक्रिय होते हुए भी कर्ता नहीं है। परमार्थिक दृष्टि से कार्य का निष्पादक मन ही है। आत्मा स्वतन्त्र स्वयं स्व का परिचालक है। उसका अन्य कोई नियन्ता नहीं है। आत्मा धर्म और अधर्म को सहायक बनाकर अनेक योनियों में गमन के लिए स्वतन्त्र है और यह व्यापक है। रजोगुण और तमोगुण संयुक्त बद्ध जीव पूर्वजन्मार्जित कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर ग्रहण करता है। देह स्थिर इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न सुख-दुखादि का

---

१. आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्याद् अयोगाद्वा न वर्तते ॥ च० शा० १।५४

The self is in it self whithout consiousness. Consiousness can only come to it through its connection with the sense organe an manas. Hist. of Ind. Phil. vol. I, P. 214

अनुभव करता है । एक देह के इन्द्रियों से अन्य देह का सुख-दुःखादि ज्ञान सम्भव नहीं है । अतः व्यापक होते हुए भी सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है । सुख-दुःखादि की अनुभूति में प्रधान सहकारी मन है और वह कर्म के अनुसार विभिन्न रूप में है । किन्तु योगी योग के प्रभाव से दूसरे में स्थित वतुओं का भी प्रत्यक्ष करते हैं । इस प्रकार योग दर्शन से चरक सिद्धान्त बुद्धि और मन के भेद को छोड़कर साम्य रखता है । श्वास-प्रश्वास, चक्षु का उन्मेष और निमेष, जीवन-मरण मन की विभिन्न देश में गति, इन्द्रियान्तर से मन का संयोग, विषयान्तर से मन का सम्पर्क, स्वप्नयोग में मन की विभिन्न देशों में गति, इच्छा द्वेष, सुख-दुःख, धैर्य्य, चैतन्य, बुद्धि, स्मृति, अहङ्कार आदि आत्मसंयुक्त देह में देखा जाता है, शून्य मृत शरीर में इन चिह्नों की उपलब्धि नहीं होती है । षड्धातुमय यह शरीर है, आत्मा के अभाव में पाँच धातु अवशिष्ट रह जाता है, इसी लिए मृत्यु को पञ्चत्व प्राप्ति कहा गया है ।[1]

योग में ये सभी बुद्धि के धर्म हैं । इस विश्लेषण में वैशेषिक दर्शन का प्रभाव भी लक्षित होता है ।

खण्डन

बौद्धों का चरक के अनुसार खण्डन—

वौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ क्षणिक है, वे अस्थायी आत्मा नहीं मानते हैं । चरक में उनका खण्डन मिलता है । जीव की प्रतिभा और मोह का कारण धर्माधर्म है । आत्मा के अभाव में निराश्रित धर्माधर्म उत्पन्न नहीं हो सकता है । सत्य उपादेय धर्म का जनक एवं मिथ्या अनुपादेय अधर्म का जनक है । स्थायी आत्मा के अभाव में सत्य और मिथ्या से धर्म और अधर्म नहीं हो सकता है । आत्मा के अभाव में शुभाशुभ कर्मों की भी सम्भावना नहीं है । कर्ता ही कारणों का ज्ञाता होता है । बोद्धा पूर्व और अपर अवस्था का द्रष्टा होता है । स्थिर आत्मा के अभाव में यह सम्भव नहीं है । आत्मा के भोग का आयतन शरीर है । भोग्य भोक्ता के विना व्यर्थ है । सुख दुःख की भोग्यता भी आत्मा के विना सम्भव नहीं है । ज्ञाता के विना शास्त्र और शास्त्रार्थ-विज्ञान व्यर्थ ही है ।

आत्मा के अभाव में जन्म मृत्यु, बन्धन और मुक्ति सभी निरर्थक है । गृह-निर्माता के अभाव में केवल मिट्टी, दण्ड, चक्र के द्वारा घट आदि का उत्पादन सम्भव नहीं है । आत्म-निरपेक्ष सम्मिलित उत्पादन से देह की

---

१. चरकशा० १ । ६०—६३ ।

उत्पत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के स्थायित्व के विना किसी के द्वारा किये गये कर्मों का कोई दूसरा भोग करेगा। जब कि भावी फल की प्राप्ति की अभिलाषा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। किसी का फल कोई भोग करेगा तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः देहातिरिक्त आत्मा है। (च॰ शा॰ १-३९-४८) विवेकज्ञान से मुक्ति एवं पुरुष के भोग और सृष्टि के लिए आत्मा है यह चरक में भी स्वीकृत है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से प्रकृति से बुद्धि आदि की उत्पत्ति एवं प्रलय से प्रकृति में लय उभयत्र समान है, पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञान होने पर प्रकृति उनके लिए शरीर का उत्पादन नहीं करती है।

तन्त्र और योग—

तन्त्र में कुण्डलिनी का जागरण अपेक्षित है। इसके विना पूजा, अर्चा साधना सभी व्यर्थ है। जितने समय तक कुण्डलिनी निद्रित रहती है, तब तक सिद्धि लाभ की सम्भावना नहीं है, योगाभ्यास करने पर भी ज्ञान नहीं होता है। देवी कुण्डलिनी के जागरण से ही अष्टविध ऐश्वर्य युक्त हो महायोगी शिव के समान संसार में विचरण करता है।[1]

इस कुण्डलिनी के जागरण के लिए योग साधना एकान्त रूप से अपेक्षित है। योग के विना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव नहीं है। रुद्रयामल में योग के अधीन ही कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है।

विना योगं न सिध्येत कुण्डली-चङ्क्रमः प्रभो। (ग॰ त॰ ६।३६)
वेदाधीनं महायोगं योगाधीना कुण्डली। (कुरु॰ या॰ उ॰ न॰ प॰ २१)

इतना सत्य है कि विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इनसे सम्ललित योग के द्वारा ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। कुण्डलिनी नाद ब्रह्म है, अतः सङ्गीत के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, क्योंकि स्वर नाद ब्रह्म है। वेद में कर्म, ज्ञान, भक्ति सम्वलित योग की अपेक्षा कही गई है। वस्तुतः योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव ही नहीं है, क्योंकि, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग से अतिरिक्त कोई साधना ही नहीं है। अतः साधना का अर्थ ही योग है। किन्तु कुण्डलिनी-जागरण की दृष्टि से कुण्डलिनी योग, हठयोग एवं लययोग ही गृहीत है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म सर्वमन्त्रमयी सर्वदेव-

---

१. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद् विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्यसमन्वितः॥ गन्धर्वतन्त्र ६।३७—३८

मयी, सर्वसत्त्वमयी है। योग की चितिशक्ति या पुरुष कुण्डलिनी से अभिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूपा, सनातनी, विश्वातीता ज्ञानस्वरूपा है। योग के अनुसार चेतन निष्क्रिय है, किन्तु चितिशक्ति को सक्रिय एवं निष्क्रिय उभय माना हैं। कुण्डलिनी पद्म के मृणाल सूत्र के आकार की है, आदित्य के या अङ्गार के समान जाज्वल्यमान है, सूर्य कोटि की प्रभा के समान उसकी प्रभा है, मूलाधार में चतुर्दल रक्त कमल है, गुह्यदेश से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे सुषुम्णा नाडी के मुख से संलग्न अधोमुख पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर में वज्रा नाडी के मुख में त्रैपुर नामक विजली के समान उज्ज्वल कोमल त्रिकोण है। उस त्रिकोण में परिव्याप्त कोटिसूर्य के समान देदीप्यमान रक्तबन्धु पुष्प के समान रक्ताभ जीवधारक कन्दर्प नामक वायु है। श्रीक्रम के सिद्धान्तानुसार यह त्रिकोण कामाख्ययोनि है और कन्दर्प अपानवायु है।[1] शाक्तानन्द-तरङ्गिणी के अनुसार त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख छिद्रयुक्त स्वमन्युलिङ्ग है। मृणालसूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुलकुण्डली अपने मुख के द्वारा ब्रह्मद्वार = स्वयम्भु है, गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जिस द्वार से निरामय ब्रह्म स्थान में प्रगति की जाती है, वही ब्रह्मद्वार है। ब्रह्मद्वार की ओर मुख कर उसको सदा आवृत कर यह रहती है—यही स्वयन्त्र लिङ्ग-रन्ध्र ब्रह्मद्वार है।

"ब्रह्मद्वार-मुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम्॥

यह कुण्डलिनी केवल शिव को ही आवृत करती है—ऐसी बात नहीं है। वरन् सभी नाडियों को संवेष्टन कर स्थिर रहती है। गुह्य और मेढ्र के मध्य में अधोमुख त्रिकोण योनि है, वहाँ सभी नाडियों का मूलाधार कन्द है, उस कन्द में सदा कुण्डलिनी वर्तमान रहती है, वह सुषुम्णा नाडी के विवर में पुच्छ को मुख में निविष्ट कर अवस्थित है।

गुदा से दो अङ्गुल ऊपर मेढ्र से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल विस्तृत पक्षी के अण्ड के समान स्थित कन्दमूल है। इसी से बहत्तर हजार नाडियाँ उत्पन्न होती हैं।

यह कुण्डलिनी शक्ति ही विश्व की प्राण शक्ति एवं जीव की जीवन शक्ति है। यह जीवन शक्ति प्राण के रूप में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर भी

---

१. कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी।
अपानाख्यं हि कन्दर्पम् आधारे तत्त्रिकोणके॥ विश्वनाथ टीका

उसका श्वास-प्रश्वास अव्याहत गति से चलता रहता है। इसके निःश्वास प्रश्वास के द्वारा यह जगत् में जीव को धारण करती है, निश्वास क्रिया जीवन प्रवाह का मूल है और कुण्डलिनी जीव का जीवत्व है। प्राणायाम जो यह योग का आधार है, वह कुण्डलिनी के सम्मुख में ही उपयुक्त होता है। प्राण के 'हंस' कहने का अर्थ दो अक्षरों के अनवरत प्रवाह के कारण ही प्राण की हंस यह संज्ञा है। इसी हंस का आश्रय कर कुण्डलिनी अपने को व्यक्त करती है।

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राज्ञस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः ॥ (ष० नि० श्लो० ११)

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राणकुण्डलिनी कहा जाता है, इस शक्ति को कुण्डलिनी शब्द से कहने का कारण यह है कि साप के समान कुण्डली मार कर यह रहती है, अतः यह नाडी कुण्डलिनी है। योगियों ने अपनी योग दृष्टि के आधार पर सर्पाकार में इसका प्रत्यक्ष किया है—इसलिए इसको सर्पी भी कहा है। सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः प्राण शक्ति के प्रतीकभूत सर्प के आधार पर भी इसे सर्पी कहा जाता है। जोड़ा सांप की अलङ्करण मूर्ति (motif) मेसोपटिमिया के लेगोश के राजा King Gudea of Lagash के यज्ञीय पान पात्र में चिह्नित पायी जाती है। इस राजा का आनुमानिक समय २६०० B. c. माना गया है। प्रायः यह ऐतिह्य भी समसामयिक ही है। सांप प्राणशक्ति का प्रतीक है, यह साधारण जनता में भी प्रसिद्ध है।

इस सर्व-सत्त्वमयी महाकुण्डली के द्वारा अनेक विलक्षण क्रियात्मक प्रपञ्च मूर्ति विश्व की सृष्टि होती है। इसका प्रसारण ही चिद् अचिद् जगत् का उन्मेष है, इसी लिए यह मूलाधार है। गुरु कृपा ही इसकी उपलब्धि का साधन है।

योग दृष्टि के आधार पर मानव शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसी लिए मूलाधार में इसका स्थान माना गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्दश भुवन एवं उससे सम्बद्ध सभी पदार्थ इस पिण्ड में अवस्थित है। मूलाधार पाद के अधोभाग में सप्तभुवन = सप्त पाताल और ऊपर शिर तक भूःआदि सात भुवन है।

इस मूलाधार से ऊपर चक्र का स्थान है। मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाड़ी है। इसी में या चित्रिणी नाड़ी में पद्म का स्थान है। सुषुम्णा नाडी में श्वास नाडी है और उसके अभ्यन्तर चित्रिणी नाडी का स्थान है। चक्र कथन से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, एवं विशुद्ध इन प्रधान छ चक्रों को

समझा जाता है। इनसे अतिरिक्त ललना सोमचन्द्र आदि का भी निर्देश मिलता है। ये चक्र प्राणशक्ति के अतिमूक्ष्म केन्द्र है, सजीव मानव के शरीर में प्राणवायु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये चक्र चक्राधिष्ठात्री सूक्ष्म शक्ति के स्थूल स्पन्दन से होते है, उक्त स्थान को व्याप्त कर चन्द्र अवस्थित रहता है एवं उसी स्थान को वह नियन्त्रित करता है। इन चक्रों का स्वरूप-ग्रहण महाशक्ति ही करती है। शक्ति की गति वृत्ताकार और चक्राकार धारण करती है, यह चक्राकार अवस्था ही योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है। पद्म चक्र के चार दल है। योगनाडी की संख्या के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार चक्र घेर कर एवं मूलाधार के मध्य में चार नाडियों के जाने से चतुर्दल पद्म आकार की प्राप्ति होती है। ये योग नाडियाँ स्नायु नहीं वरन् प्राणवायु का प्रवाह पथ है, गत्यर्थक नड् धातु से निष्पन्न नाडी शब्द प्राणवायु के यातायात की बोधक है। प्रधान दश नाडियाँ है—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती वारुणी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा और शङ्खिनी, किसी के मत में चौदह प्रधान नाडियाँ हैं:—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती वारुणी, पुषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वादरी, कुहु, शङ्खिनी पयस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारी।[१] इनमें भी प्रधान ईडा, पिङ्गला और सुषुम्णा है। मेरुदण्ड के बाह्यदेश में वाम भाग स्थित चन्द्रनाडी, दक्षिण में सूर्यनाडी और मेरुदण्ड के मध्य में तीन गुणों वाली चन्द्रसूर्य और दीप्ति-स्वरूपा सुषुम्णा है।

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।

मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा। (षनि; श्लो०)

यह नाडी सुषुम्णा, बज्रा, चित्रिणी इन तीन रूप के भेद से त्रिसूत्ररूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, बज्रा सूर्यरूपा अनार किञ्जल्क-कान्ति और सुषुम्णा अग्निरूप रक्तवर्ण है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार मूलधार से ऊर्ध्वगति के समय अन्नमय-कोश में अभिमान होता है, तब ईडा और पिङ्गला की क्रिया चलती है, किन्तु जब सुषुम्णा उद्बुद्ध होती है, तब इस जागरण की मात्रा के अनुसार ईडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है प्राणवायु के सञ्चार के अनुसार ईडा और पिङ्गला के सञ्चार में ह्रास आता है और क्रिया में अवरोध भी होता है। अभिमान अहन्तत्त्व की प्राणमय कोश में क्रीडा आरम्भ

---

१. ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१–५३। योगियाज्ञवल्क्य

२ यो० भ०

हो जाती है। प्राणमय कोश में प्रवेश के अनुरूप अन्नमय कोश समाप्त हो जाता है इस कोश की क्रिया के अवसान के साथ अथ वा इस क्रिया की अवस्था में ही गुरु कृपा या साधना के बल पर वज्रिणी या (वज्रा) नाडी का द्वार अनावृत्त हो जाता है। शक्ति इसी नाडी से क्रियाशील होती है। अहन्ता प्राणमय कोश का त्याग कर प्राणमय कोश का आश्रयण करता है। वज्रिणी नाडी से चित्रिणी नाडी में प्रवेश होता है। अहन्ता मनोमय कोश से ज्ञानमय कोश में प्रवेश करती है चरमावस्था में चित्रिणी नाडी का भी त्याग हो जाता है। इस अवस्था में यथार्थ ब्रह्मनाडी का आश्रयण होता है और शक्तिलीला आरम्भ हो जाती है। अहन्ता विज्ञानमय को छोड़कर आनन्दमय कोश का आश्रयण करता है। इस कोश में किसी प्रकार का मालिन्य नहीं है। यही जीव का शक्ति के अङ्ग में अवस्थान है. आनन्दमय कोश की सम्यक् अनुभूति वर्तमान रहती है। यही महाचैतन्य का परम साक्षी अवस्था में अवस्थान है।[1]

प्रवुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया॥

(ध्या० दि० उप० पृ० ६६)

शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार साधना करने पर कुण्डलिनी के प्रवुद्ध होने पर प्रवुद्ध कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी में ऊर्ध्वगमन करती है। चित्रिणी नाडी के मुख पर ब्रह्मद्वार है। पश्चशिव शक्ति के सामरस्य से निःसृत अमृत धारा में अभिषिक्त देश में प्रवेश करती है, जहाँ से निकलने का यही द्वार है इस द्वार से कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में गमनागमन करती है। योग प्रक्रिया में उपलब्ध इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थान या सुषुम्णाका मुख कहते हैं।

ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधधार–गम्य–प्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति॥

षट् च० निरूपण श्लोक ३

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर यह विचारणीय है कि मूलाधार को वह शून्य करती हुई जाती है क्या? कुण्डलिनी जब मूलाधार से ऊपर जाती है, देह के अस्तित्व एवं प्राण क्रिया तथा जीवनाधार स्वरूप यह शवदेह नहीं होता है, क्योंकि सहस्त्रार में शिवशक्ति के मिलन के लिए प्रवाहित अमृत ही रक्षक रहता है। कतिपय आचार्यों ने ऊर्ध्वगमन के समय भी मूलाधार की

१. पू. त. पृ. ६९–७०

शून्यता नहीं मानते है ; मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की एक प्रसृति (ejction) का ही ऊर्ध्वगमन मानते हैं । प्रपञ्चसार के अनुसार मूलाधार से स्फुरित विद्युत् आभा के समान सूक्ष्माभा प्रभा ही मस्तक पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है, यह सभी तेज रूप का मूलाधार है । प्रभा का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक होता है । फलतः सर्पाकार कुण्डलिनी का मस्तक ऊपर जाता है और अधोभाग नीचे रहता है ।

"मूलाधारात् स्फुरित–तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमनुतरा तेजसां मूलभूता" (प्र० सा० १०।७)

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी असीम और पूर्णरूप है, अतः स्थितिशील रूप में और असीम गतिशील रूप में चक्रों का भेदन करती हुई वलायाकारता नहीं रहती है, जीव का स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के देहों का लय हो जाता है और विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है । किन्तु इस व्यष्टि मुक्ति में संसार का लय नहीं होता है, क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि के समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्द्धत्रिवलय के आकार में अवस्थान करती है । अतः संसार की स्थिति रहती है । कुण्डलिनी के जागरण और ऊर्द्ध्वगमन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है ।

योग और कुण्डलिनी

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है । गौतमीय तन्त्र में योग शब्द का संसार से उत्तीर्ण होना कहा है । इस जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप योग द्रष्टा-स्वरूप में अवस्थान है ।

"संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदः ।। (गौ० त०)

पातञ्जल योग दर्शन में चित्तवृति निरोध स्वरूपयोग के साथ तन्त्रोक्त योग का विरोध नहीं है, चित्तवृत्ति निरोधस्वरूप योग के द्वारा किसी अभीष्ट योग विषय में चित्त को स्थिर करना होता है ।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि भेद की चर्चा हुई है । ग्रन्थि भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिए ग्रन्थि भेद आवश्यक है । ब्रह्म-

ग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया धन ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं, इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है। रुद्रग्रन्थि भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा मोह पर विजय करता है, फलतः लोकैषणा दूर होती है प्रतीकात्मक रीति से चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता या अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन-मुक्ति है। बन्धन का तीन प्रकार है—

(१) देहज
(२) प्राणज
(३) आत्मज

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट् देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि दोष या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार में एक एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन कल्पना-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य-परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्म-ग्रन्थि भेद है।

प्राण-मन विज्ञानमयकोश में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विस्तृत होकर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन करता है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनी शक्ति या प्राण का खेल चल रहा है, सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध है—इस तत्त्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध सुख-दुःख समष्टि गत सुख,दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का धर्म आनन्द है, उसको एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आबद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने से म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टि गत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करती है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्दवर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[1]

१. पूजातत्त्व—पृ. ५७–५८

ब्रह्मग्रन्थि भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभकर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है—सभी की एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्म प्रकाश का अनुभव करता है। इष्ट मूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती है। सर्वत्र एक ही तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्म रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णु ग्रन्थि भेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्ड प्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मो को अपना कर्म मानता है सभी के सुख-दुःख में आत्म सुख-दुःख का अनुभव करता है, सभी के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न होता है। सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णु-ग्रन्थि के भेद से साधक के सञ्चित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभावरूप द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है, इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सञ्चीयमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गासप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिडी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि के द्वारा उद्बुद्ध किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं। कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता इनका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति के लिए (Paraclete) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे अनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समष्टि का तादात्म्य एवं समष्टिका हित साधन है।

प्रागैतिहासिक युग के महेञ्जोदारों के भग्नावशेष में भी योगी की मूर्ति उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त योग की भङ्गिमा में दण्डायमान देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध है[1]। इस भङ्गी को किसी ने जैनियों की कायोत्सर्ग भङ्गी माना है तो किसी ने योगमुद्रा या वायुपुराणवर्णित पाशुपतयोगमुद्रा माना है। ऋग्वेद के

१. PL × cVili, Pls, c × Vi 29& c × viii, ll)

सूक्त[1] में योगी का वर्णन उपलब्ध है रुद्र के साथ केशी विषपात्र से विषपान कर रहा है, और वह वायुरूप प्राप्त करता है और कुत्सित लोगों को ध्वस्त करना चाहता है। वायुस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मानु कुर्णनमा केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणादिवत्सह (१०।१३६) अर्थात् यह योगी योग बल से वायु-रूपता को प्राप्त कर आकाश पथ से गमन करता है। गमन काल में विश्व के सभी पदार्थों को अपने तेज से देखता चलता है। इस अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा व्यक्ति का आहार वायु है यह वायु का मित्र है। यह वायु रूप को ही प्राप्त करता है। अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् (१० १३६।४)

"वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः" (१०। १३६।५)

इस साधना से सम्पन्न अनेक मुनि थे। वे अतीन्द्रिय पदार्थद्रष्टागण कपिल वर्ण मलिन वस्त्र को धारण करते थें, तपस्या की महिमा से देदीप्यमान देवता के स्वरूप में प्रवेश करते थे और वायु गति सम्पन्न थे।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसने मला।
वातस्यानुध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ १०।१३६।२

योग साधना की प्राचीनता होने पर भी इस साधना में प्राणवायु संयमन ही मुख्य है। इस दृष्टि से प्राणायाम का अतिशय महत्त्व है, अतः प्राणायाम की अवगति आवश्यक है। बुद्धदेव के समय योग—साधना-सिद्धि के लिए एकान्त रूप से अपेक्षित थी, स्वयं सिद्धार्थ प्राणवायु के नियन्त्रण के आधार पर बुद्ध हुए। यह भी सत्य है कि स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए भी सिद्धों की निन्दा की है।

योग शास्त्र का अनुशासक पतञ्जलि को मानने पर भी इनको योगशास्त्र का प्रवर्तक नहीं माना गया है। सभी साधनाओं में योग का स्थान किसी न किसी रूप में उपलब्ध होता है, चाहे वह सनातनी हो, बौद्ध हो या जैनी हो—योग का स्थान मानना ही पड़ता है।

कुण्डलिनी का सङ्केत वेद में मन्त्रों के अध्ययन से भी उपलब्ध है। षोडशी, भुवनेश्वरी जो चितिशक्तिरूपा भुवन की उत्पत्ति का हेतु है। अन्धकार से आलोक की ओर आगमन में सूर्य की दुहिता सूर्या कही गई है, इसमें अपत्य वाचक प्रत्यय नहीं हैं; अतः यह सूर्य की शक्ति है, चैतन्य का परिणाम नहीं होता है, वह विकास मात्र है, जैसे चन्द्रमा की अभिवृद्धि होती है। तन्त्र

१. ऋग्वेद १०।१३६

में भी देखने को मिलता है कि गिरिश की दुहिता ही गिरिश की जाया, अर्द्धाङ्गिनी और अभिन्न शक्ति स्वरूपा है। गिरि के कूटस्थ चैतन्य के आधार पर ही गिरिश की जाया या दुहिता कुछ भी प्रतीत रूप में कहा है। संहिता में ही "स्वायां देवो दुहितरि त्विषि धात्" देवता अपनी दुहिता में ही अपने तेजको सन्निहित करते हैं। अध्यात्म दृष्टि से सूर्या सूर्य की दुहिता और उषा अर्थात् चेतना में श्रद्धा का आवेश, जिसको योगदृष्टि से प्रतिभा संवित् कहते है। ताहुण्य में वह सूर्य की योषा, दिव की दुहिता ही भुवन की पत्नी या भुवनेश्वरी हैं। "दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी" (ऋ ७।७।७५।४) सूर्य भी विशुद्ध चैतन्य एवं परमरूप में उत्तम ज्योतिः है, स्थावरजङ्गम की आत्मा तुरीय ब्रह्म गम्य है। किन्तु इसके भी परे एक सत्य का बन्धु है, वह जाना भी जा सकता है, और नहीं भी जाना जा सकता है "परमे व्योम्न्तसो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" १०।१२९।।४।७

अश्विद्वय रथ ही त्रिचक्र है। तेज की उपासना में रत विप्रगण दो चक्रों का ज्ञान रखते हैं, वह है दिन और रात का आवर्तन; किन्तु इससे परे भी एक भूमि है, जहाँ न दिन है न रात है। इसी को मुण्डक में सूर्यद्वार को भेद कहा गया है।

पितृगृह सूर्य का त्यागकर अपने चन्द्र स्वामिगृह में रश्मि का गमन है। इसी स्थान में अश्विद्वय का रथ तृतीय चक्र से चलता है। इसी को 'अचक्र स्वधा' कहा गया है। उस चन्द्र के गम्भीर गहन में आलोक की एक गुप्त रश्मि का आगमन है। यह नित्य वर वधू का अनुपमेय वासर है। सोम से अमृत क्षरण लोकोत्तर अमृत की दीप्ति है। ऋग्वेद ने कहा है—"गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्' इत्था चन्द्रमसो गृहे"। १।८४।१५ ।। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य ने कहा है—नाम नमनं प्रह्वत्वेनावस्थानमित्यर्थः ।४।२५ यजुर्वेद में इस रश्मि को "सुषुम्णः सूर्यरश्मिः" कहा है (वा० १८।४०) यह वही रश्मि है जो आदित्य से प्रसूत हो चन्द्रमा को आलोकित करती है। त्वष्टा की गो सविताकी किरण है। क्योंकि त्वष्टा सविता हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ह्रासवृद्धियुक्त चन्द्रमा आदित्य के इस पार है और उसकी षोडशी ध्रुवा कला आदित्य के उस पार है। इसके बाद तन्त्र में वर्णित सप्तदशी अमा की कला है। इस रूपकरणने साधना की अद्वैत भावना विकसित हो रही है। यही सतरहवीं कला सुषुम्णा की रश्मि है जिसका नाम अपीच्य या गूह्य है। यह संहिता का "अमृतस्य लोकः" है (१०।८५।२०) इस ध्रुवा और अमा कला के ऊपर है जहाँ रात और दिन का निशान भी नहीं है, "न रात्र्या अहनः आसीत् प्रकेतः" (१०।१२९।२)।

अब पवमान सोममन्त्र की ओर दृष्टिपात करें इसके ऋषि काश्यप या असित देवल हैं। सात ध्यान चेतना के द्वारा निहित पवमान सोम प्राण को चञ्चल करता है। जैसे द्रोहहीन उस नदी के एक नेत्र के सम्बर्द्धित करता है। "धीतिभिर्हितो नद्यो अजिन्वद् अद्रुहः या एकम् अक्षिवावृधुः" (९।९।४) वैदिक सोमयाग सभी यागों में श्रेष्ठ है—इसी का फल अमृतत्व प्राप्ति है। अमृतत्व एक दीप्ति है और इसी ज्योति की विभूति देवता हैं। "अपाम् सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम् देवान्"। (ऋ० ८।४८।३) अद्वैत का सम्यक् अनुभव एक और बहुत्व का समन्वय यहीं होता है। आधिभौतिक दृष्टि से सोम एक औषधि है। औषधि शब्द की ओर दृष्टिपात करने पर उष या उषस्, वस् दीप्ति या उष् दहन अर्थ में उष् के आगे धि अर्थात् उषाका आलोक जिसमें निहित है, वैदिक दृष्टि से चेतना का प्रथम उन्मेष ओषधि में इसके बाद पशु में अनन्तर मनुष्य में है। इस यथा क्रम में चिन्मय अन्न, प्राण और मन का वाहन है। ओषधि सोम राज्ञी और सोम राजा है। सवन या निष्पीडन से पृथिवी स्थानीय सोम की दीप्त्यर्थक मन्त्रात्मक देवो के उद्देश्य से अग्नि में रस का निक्षेप एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। सोम की मत्तता आत्म-विस्मृति, जगत् विस्मृति की तन्मयता है। योग चेतना में प्राकृत चेतना और विक्षेप की गूढता होती है। इतिहास में आत्माराम की योगशक्ति बलराम वारुणीपान से नित्य मत्त एवं आत्माराम के अग्रज है। आत्म समर्पण सुधापान की मत्तता एक अनिवर्चनीय है।

इस विश्लेषण से ज्योति रूप में सोम चन्द्रमा है। अग्नि, सूर्य और सोम तीन ज्योति हैं, व्यक्ति चेतना में अग्नि, विश्वचेतना में सूर्य और लोकोत्तर चेतना में सोम है। सोम की सोलह कला है। यह षोडशी कला नित्य ध्रुवा है—इसीलिए वेद पुरुष षोडशकला है। तन्त्र की महाशक्ति षोडशी है। वैष्णव भावना के विकास में चन्द्रावली ह्लादिनी पन्दरहवी कला राधा षोडशी है, औरषोडश कला से युक्त कृष्ण अनिर्वचनीय है। उपसंहार में अध्यात्म दृष्टि से सोम ही तन्त्र की सुषुम्णा है सूर्य रश्मि हो आदित्य मण्डल में अमृत है, वह अमृत सूर्य रश्मि के द्वारा वाहित होकर ब्रह्म रन्ध्र की प्रणालिका से जीवन के हृदय को आधान करती हैं। उपनिषद् में अनेक स्थान में इसका वर्णन उपलब्ध है। अमृत वाहिनी यह नाडी हठयोग की सुषुम्णा है। अध्यात्म दृष्टि में नाडी और अधिभूत दृष्टि में नहीं है, योग तन्त्र की सुषुम्णा नाडी ऋक्संहिता की सुषोमा नदीं है इस तरह सुषोमा, सुषम्णा सोम इन तीनों की व्युत्पत्ति एक धातु से है और तीनों में अमृत प्रवाह की व्यञ्जना है। निघण्टु

के अनुसार इसका अर्थ सुख होता है, फलतः सोम आनन्द चेतना, साहित्यिकों की रस चेतना अमृत और महासुख है। सोमयाग इसकी प्राप्ति का साधन है और योग में कुण्डलिनी का जागरण इसी सुषुम्णा से होता है जिससे आनन्द धारा का क्षरण सम्भव है। अतः कुण्डलिनी का जागरण में वैदिक; तान्त्रिक को और योग का समन्वय है।

१. उपनिषद् में इस प्रणालिका का नाम हिता नाडी है (ऐ० उ० १।१२) (बृ० उ० ४।२।३, ३।२०।) रश्मि नाडी और नदी की एकता ऋग् संहिता में सिद्ध है। "याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद गातुमूर्मिम्, ते सिन्धवो वरिवो धातुना नः" (ऋ० ७।४४।४) सूर्य जिनका विस्तार करते हैं, उनकी रश्मियों से इन्द्र जिनके लिए पथनिर्माण करते है, वह सिन्धु हमलोगों के मध्य वैपुल्य धारण करे। नाडी विज्ञान का भी यहाँ सङ्केत उपलब्ध है। सूर्य रश्मि में चिन्मय ही हठयोग में चित्राणी है, इन्द्र तेज में ओजस्वी वज्राणी वृत्र की परिधि में अर्थात् आवरक तमः शक्ति की वेष्टनी में नदी की धारा अवरुद्ध है इन्द्र वज्र शक्ति से उस अवरोध का विदारण करता है (द्र० ३।३३। ११) धारा चेतना के साथ प्रवाहित होती है। इसी तरह ऋक् संहिता में ही "अथ ते शर्यणावति सुषोमायाम् अधि प्रियः आर्जीकीय मदिन्तमः (८।७। २९) हे इन्द्र तुम्हारा यह प्रिय सोम शर्यणावत् सुषोमा एवं आर्जीयकी में रहता है आदि। वीर्यशाली मरुद्गण ज्योतिर्मय महाप्राण को रथ चक्र गभीर से वहाँ पहुँचे तीन धामों में उनका नाम आर्जीक, सुषोम और शर्यनावत् है। (८। ६४।११) शाकटायन ब्राह्मण के शर्यणावत् का अर्थ कुरुक्षेत्र के अवोदेश में स्पन्दमान सरोवर (सायण भा० १।८४।१३) वस्तुतः इस शरीर में ही कुरुक्षेत्र एवं देवयजन भूमि है, ऐसी स्थिति में शर्याणवत् उसके अधोदेश में स्थित मूलाधार है, आर्जीक या आर्जीकीय का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ऋजुता रूप में जो चले अर्थात् जहाँ से चेतना की अकुटिल गति होती है। इस प्रकार इसको सहस्नार कह सकते हैं, दोनों के मध्य में सुषोमा नदी या सुषोम धाम है, सुषोमा अमृत प्रवाहिनी सोम की धारा उसके मध्य में प्रवाहित है। इसका सङ्केत हठयोग की योनि मुद्रा में है। यथा "यत्र ब्रह्मा ग्राव्णो सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्। (९।११३।६) ग्रावा सोमचेतनाका पाषाण अर्थात् योनिकन्द है। अतः इसमें सन्देह नहीं है कि कुण्डलिनी जागरण का सङ्केत वेद में है इसके मूल में सुषुम्णा नाडी की आवश्यकता है कूण्डलिनी की अकुटिलता के साथ सहस्नार गति और वहाँ सोम समन्विति और अमृत क्षरण होता है, महासुख की दीप्ति और प्रातिभ संवित की यही सम्पत्ति है।

प्राणायाम और उसकी योग में उपयोगिता

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवें सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं । "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ।" (ऋ० १।१८।७) इसी का छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है ।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम् । गमद् वाजेभिरा, सनः" । (ऋ० १।५। ४, साम ३०१।२।१०३, अथर्ववेद २०।६९१) में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है) । मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो । इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिये वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे । "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे सवाय इन्द्र भूतये" । (ऋ० १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया ।

आत्म ज्योतिः के आनन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आचरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों के प्रतिबिम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है ।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप के उपलब्ध होता है । यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है ।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध है ।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है । कषाय ही बन्धन के कारण हैं, नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है । ज्ञान ही इनका प्रधान कारण हे अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है । सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है । इसके

द्वारा जीव, आजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आस्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता हैं और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किं जणयइ ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं भन्ते, जीवे किं जणयइ ? तवेणं जणयइ। (उत्तराध्ययन, २६, २६–२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिति) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्ददृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आस्रवक्षयज्ञान षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूवानुस्मृति और केवल ज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है सम्यक्चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य, आदि वारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७।पृ.४) समत्वप्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्वप्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योगक परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्नालम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरिक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती है। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के बिना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही वहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व का उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविद्या के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख

---

१. विशुद्धिमग्गों पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बेन प्रवृत्तिः समाधिः। अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम ? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा२ पृ० ४३२

रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकाग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है। और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण की कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमि में ज्योति स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से काय-सम्पत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधनाओं का मूल लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural laws' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इन की उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है! अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषरूप या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् concepticn उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व की ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Paricularity के region से अलगकर universality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorpiton into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमिहै जहाँ धारणा thorugh understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। धृतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की समी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान Pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रस्तुत होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तब निष्काय निःस्पृह विजतेन्द्रिय अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्रभेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है।

इस दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा संस्कृत संस्थान के अधिकारी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के उद्धार के लिए निबद्ध परिकर श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके पुत्र राजेन्द्रकुमार की मैं सतत अभिवृद्धि की कामना करता हूँ।

जिनके उत्साह और निष्काम चेष्टा के द्वारा यह ग्रन्थ सुलभ एवं उनके परम प्रेम पाश में आवद्ध मेरे द्वारा इसकी भूमिका का लेखन सम्भव हो सका है। मैं इनका आभार वहन करता हूँ।

प्रेस के संचालन में दक्ष श्री ब्रजरतनदासगुप्त की पुनः पुनः संशोधन करने पर भी उद्वेगशून्यता देखकर उनके धैर्य की प्रशंसा करना मेरा कर्तव्य होता है।

मेरे प्रमाद को मुझे ही समर्पित करते हुए विद्वज्जन ग्राह्य अंश का रसास्वादन कर मेरे श्रम को सफल करें।

४ नवम्बर १९८४

महाप्रभु गोस्वामी

भूमिका

अथेदं प्रकाश्यते मुद्रयित्वा सटिप्पण्या योगप्रदीपकाख्यटीकया समलङ्कृतं पातञ्जलदर्शनम्। एतद्दर्शनविषयमाहात्म्यं तदध्ययनफलादिकं च वृत्तिषट्कसमन्वितस्य काशीसंस्कृतसिरीजपुस्तकमालाया-मधुनैव मुद्रितस्य योगदर्शनस्य भूमिकायामालोचितमस्माभिः।

योगप्रदीपिकाख्या वृत्तिस्तु आचारदर्पण–सन्ध्याप्रकाश–उपदेशरत्नादिअनेकनिबन्धरचयित्रा श्रीधराख्यमैथिलपण्डितप्रकाण्डस्याधुनिकयोगिराजस्य तनूजन्मना पण्डितबलदेवमिश्रेणास्मिन्नेव शतके निबद्धा। अस्यां च टीकाकर्त्रा सवार्तिकभाष्यवाचस्पत्ययोरेव प्रायशो व्याख्यानं कृतमिति पाठकानां दृष्टौ स्वयमेवागमिष्यतीति कृतं तत्समालोचनेन। अतस्तान्यनधीत्य स्थलविशेषेषु भाष्यकाराणां वाचस्पतिमिश्राणां चाभिप्रायोऽनयैव टीकया बोद्धुं शक्यत इत्येवास्या अभिनवव्याख्यायाः प्रयोजनमवगम्यते। पुराणस्मृतिवाक्यानां च प्रमाणभूतानां विस्तरेण निबन्धनं योगाङ्गप्राणायामक्रियायां मात्रापरिगणने घटिकापलादिबोधकचक्रविशेषस्य प्रदर्शनं चात्र यथा तीव्रधिया टीकाकारेण कृतं तथाऽयं योगप्रक्रियायां विशेषज्ञ आसीदित्यवगम्यते, किन्तु एतत्प्रकाशनकाल एव टीकाकर्तुः शिवसायुज्यलाभो जात इति महान्विषादविषयोऽस्माकम्। तदाशास्यते तत्कृतयोगप्रदीपिकायाः साङ्गप्रकाशनेन तदन्तरात्मा शान्तिमुपेयात् इति।

यथामति निर्ध्यानेऽपि एकमात्रस्य आदर्शपुस्तकस्य प्रायशः शुद्धत्वेपि च प्रमादाज्जाता अशुद्धीः क्षमिष्यन्ते विद्वांस इति च प्रार्थयते।

सितसहस्यपूर्णमासी।
सं० १९८७

विदुषामनुचरः
ढुण्ढिराजशास्त्री।

पातञ्जलदर्शनविषयसूची ।

विषयसूची ।

इति ।

अथ पातञ्जलयोगसूत्राणि ।

प्रथमः समाधिपादयः ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥
वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाः अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥
विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रुपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥
अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥
स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढभूमि ॥ १४ ॥
दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥
वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥
भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥
श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥
तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम ॥ २५ ॥
स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥
तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वा-
ऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥
विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥
वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥
यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥
क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥
तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥
ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥
ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥
श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

अथ द्वितीयस्साधनपादः ।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतै(ते)वास्मिता ॥ ६ ॥
सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥
दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥
परिणामतापसंस्कारदुःखगुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः १५
हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥
द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥
विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥
तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ ॥ २१ ॥
कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥
स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥
तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥
तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥
तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा ॥ २७ ॥
योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥
एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥
वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥
वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३९ ॥
शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥
संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥
कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥
स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥
प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥
ततो द्वंद्वानभिघातः ॥ ४८ ॥
तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥
स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ५०
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥
धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥
स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥
ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अथ तृतीयो विभूतिपादः ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥
त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥
तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥
तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥
त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥
तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥
व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥
सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥
शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥
शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥
न तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥
कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानम् २१

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥
मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥
बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥
प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥
भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात् ॥ २६ ॥
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥
कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥
प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥
हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥
सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥
ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥
बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥
उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥
समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥
श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥
कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२
बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥
स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥
स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥
क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥
जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततःप्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥
तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः ।

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥
जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥
निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥
तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥
कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥
ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ९
तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥
हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥
अतीतानागतं स्वरूपोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥
ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥
परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १६ ॥
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १७ ॥
न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १८ ॥
एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ १९ ॥
चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २० ॥
चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २१ ॥
द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २२ ॥
तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २३ ॥
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २४ ॥
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २५ ॥
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २६ ॥
हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २७ ॥
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २८ ॥
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ २९ ॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३० ॥
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३१ ॥
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३२ ॥
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३३ ॥

इति पातञ्जलयोगसूत्राणि ॥

पातञ्जलदर्शनम् ।

योगप्रदीपकाख्या वृत्तिः ।

आसीदग्र्याहिरण्यगर्भकथितो योगः समो यः पुरा तस्य स्तोकगिरानुशासनमविघौघापहं सूत्रितम् ।
भोगैर्येन धृताऽभवच्च सुखतः सिद्धार्थवन्मेदिनी खिन्नं मां स पतञ्जलिर्मुनिवरो ज्ञानामृतैः सिञ्चतु ॥ १ ॥

हरियम्मकुले जातो बाल्यात्प्रभृति सर्वदा ।
योगाभ्यासरतः शान्त आसीद्धलधरो द्विजः ॥ २ ॥
आज्ञारामाभिधं सारस्वतं यः कृपया द्विजम् ।
अन्तेवासिनमेकान्तभक्तं योगमुपादिशत् ॥ ३ ॥
स च तत्सन्निधौ सम्यक् योगाभ्यासस्य पाटवात् ।
अदृश्यत्वादिकां सिद्धिमासाद्य प्रस्थितो वनम् ॥ ४ ॥
प्रस्थाप्य तं वनं कालाद्गङ्गातटमुपेत्य सः ।
संत्यज्य च तनुं जीर्णां परमां गतिमाप्तवान् ॥ ५ ॥
तस्य श्रीधरनामाऽऽसीदात्मजन्मा गृहाश्रमी ।
कियन्त्यब्दानि योगस्य कृतवान् परिशीलनम् ॥ ६ ॥
अन्ते वाराणशीं गत्वा मणिकर्ण्यां तनुं निजाम् ।
प्रवेश्य जाह्नवीपूरे प्रणवं प्रोच्चरन् मुहुः ॥ ७ ॥
योगाभ्यासैकसंस्कारवशाज्ज्ञानपुरःसरम् ।
पञ्चत्वमेत्य परमं पदमाप निरामयम् ॥ ८ ॥
तस्य ज्येष्ठतनूजः श्रीबलदेवाभिधः सुधीः ।
शब्दशास्त्रमधीत्याहं ग्रन्थानेतान् व्यरीरचम् ॥ ९ ॥
सन्ध्याप्रकाशमन्यच्च गृहस्थाचारदर्पणम् ।
तथोपदेशरत्नं च भावरत्नाख्यमादरात् ॥ १० ॥
ततः कालेन कियता मृतपुत्रकलत्रकः ।
वैराग्यं प्राप्य योगस्याभ्यासं कुर्वन् प्रयत्नतः ॥ ११ ॥
भाष्यं सवार्त्तिकं दृष्ट्वा वाचस्पत्यं च कृत्स्नशः ।
तेभ्यः प्रोद्धृत्य संक्षेपाद्वाचस्पत्यानुगामिनीम् ॥ १२ ॥
आरुरुक्षोर्विशेषेण योगं तत्रोपकारिणीम् ।
करोमि योगसूत्रस्य व्याख्यां योगप्रदीपिकाम् ॥ १३ ॥

इह हि भगवान् पतञ्जलिः प्रारिप्सितस्य शास्त्रस्य संक्षेपतस्तात्पर्यार्थं प्रेक्षावतां प्रवृत्तेरङ्गमुपोद्बलकं (अधिकारिसम्बन्धविषयप्रयोजनाभिधानरूपम्) तदाचिख्यासुः सुखावबोधार्थमिदं सूत्रं रचयाञ्चकार—

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ इत्ययमधिकारार्थः अधिकारः प्रस्तावः प्रस्तूयत इति तदर्थः तदाध्याहारे(१) तात्पर्यग्राहकमथपदम् वाचकत्वपक्षे तस्यैवारभ्यत इत्यर्थः । अधिकारार्थस्याथशब्दस्यादौ श्रवणं मङ्गलायोपकल्पते

---

(१) तदाध्याहारे प्रस्तूयत इत्याध्याहारे शास्त्रं प्रस्तूयते प्रारभ्यत इत्यर्थः ।

अन्यार्थस्य नीयमानस्योदकुम्भस्य दर्शनवदित्यपि वेदितव्यम् ॥ योगस्य वक्ष्यमाणलक्षणस्यानुशासनम्-अनुशिष्यते व्युत्पाद्यते लक्षणभेदोपायसहितो योगोऽनेनेति करणसाधनव्युत्पत्त्या तत्सिद्धिः। शिष्टस्य शासनमनुशासनं शास्त्रमित्यर्थः । अत एवाऽऽनन्तर्यार्थकत्वव्युदासायानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यमित्युक्तं भाष्ये । तत्र योगव्युत्पादनं तज्जिज्ञासुरधिकारी योगनिर्वाणयोः साध्यसाधनभावः शास्त्रयोगयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावश्च सम्बन्धः व्युत्पाद्यतया ससाधनः सफलो योगो विषयः। कैवल्यं च परमं प्रयोजनमवान्तरफलं चेति बोध्यम् । युजसमाधावित्यस्मात् युज्यतेऽनेनेति करणसाधनो योगशब्दः तदेवोक्तं योगः समाधिरिति। यद्यपि—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः । (याज्ञ०)
परेण ब्रह्मणा सार्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः ॥
स एव योगो विख्यातः किमन्यद्योगलक्षणम् । (महाभार०)
इतिस्मृतिभ्यः प्रत्यगात्मपरमात्मनोरैक्यं योगः साध्यः,
जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्मनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते ॥

इति स्कान्देन यमनियमासनादिवक्ष्यमाणसूत्रेण चात्ममनसोरैक्यं समाधिः साधनमिति साध्यसाधनभावेन योगसमाध्योर्भेदः प्रतीयते, तथापि 'आयुर्वै घृतं लाङ्गलं जीवनमि'त्यादीवोपकार्योपकारकयोरङ्गाङ्गिनोरभेदविवक्षया व्युत्पत्तिमात्राभिधानं चैतद्योगः समाधिरिति वैयासिकं भाष्यम्। एतेन समाधेर्योगाङ्गत्वेन सूत्रणादङ्गाङ्गिभावस्य च दर्शनाद्योगशब्दार्थः समाधिरिति न साम्प्रतमिति व्युदस्तम्।

वस्तुतस्तु समाधीयते एकाग्रीक्रियते चित्तमनेनेति करणसाधनः समाधिशब्दो योगाङ्गवाचकः समाधीयन्ते निरुध्यन्ते प्राणादिवृत्तयो यस्मिन्नवस्थाविशेषे इत्यधिकरणसाधनो योगार्थकः। एतत्पक्षे योगशब्दोऽप्यधिकरणसाधन एवेति गृहाण । एतेन संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च योग इत्युक्तं भवतीति ॥ १ ॥

पूर्वोपात्तं द्विविधं योगं परामृश्य तल्लक्षणाय सूत्रयति—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिसत्त्वमुपलक्षयति न तु कूटस्था(१) नित्या चितिशक्तिः, सा हि अपरिणामितया न ज्ञानधर्मा भवितुमर्हति बुद्धिस्तु तथा भवति तस्या या वृत्तयः परिणामात्मकज्ञानरूपाः राजसतामसात्मिकाः न तु सात्त्विक्यः(२) तद्विशेषणत्वेन सर्वपदाग्रहणात्। तासां निरोधो योग उच्यते, अत एव क्लेशकर्माशय(३)परिपन्थिनः सम्प्रज्ञातस्याप्येतल्लक्षणं सिद्धम्। तत्र सात्त्विकवृत्तेस्तादवस्थ्यादिति सूत्रकारस्याशयः। तासामपि वृत्तीनां निरोधेऽसम्प्रज्ञातो जायते स एवाष्टाङ्गो योग उच्यते, निरुध्यन्ते प्राणादिचित्तवृत्तयो यस्मिन्नवस्थाविशेषे सोऽवस्थाविशेषो निरोधः। एतेन निरुद्धावस्थेत्युक्तं भवति। स एव योगः । क्लेशकर्माशयप्रतिपक्षत्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति लक्षण(स्वरूपं)-मुभययोगव्यापीति बोध्यम्। अयं चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो योगः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च या मधुमती मधुप्रतीका विशोका संस्कारशेषेति चतस्रोऽवस्थाश्चित्तस्य तासु सर्वासु विदितः। तदङ्गं तु यमनियमासनादिवक्ष्यमाणसूत्रोक्तसमाधिर्नैवंभूतः स चार्थमात्रनिर्भासः यस्मिन् ध्यानविशेषे ध्येयाकारमात्रेणैव

(१) कूटस्थेति। यो यद्वस्त्वन्यथाकारं दर्शयति स कूटोऽविद्या तत्स्था तदुपहिता तदवच्छिन्नेत्यर्थः।

(२) न तु सात्त्विक्य इति। वस्तुतः तामसादिसमस्तवृत्तिनिरोध एव योगः परन्तु विक्षिप्तचित्तेनापि हि न तथा कर्तुं शक्यते तस्माद्रजस्तमोवृत्तीरपहाय केवलं सात्त्विकवृत्तेरभ्यासो विधेयः तस्मिन् दृढीभूते एकाग्रताभ्यासः कार्यः तदैव तस्य योग्यतासम्भवात् तस्मिँश्च दृढावस्थे निरोधाभ्यासः सम्भवति स्थिरीभूते निरोधेऽसम्प्रज्ञातो जायते इति तदाशयः।

(३) कर्माशयो धर्माधर्माख्यसंस्कारविशेषः।

साक्षिणि भासते न तु साक्षात्कारेण स ध्यानरूप एव । यद्यप्यस्मिन्नपि समाधौ चित्तवृत्तिनिरोधोऽस्ति परं च न स क्लेशक्षयादीन् करोति अतो नास्य योगत्वम् । सम्प्रज्ञातसमाधिस्तु निरोधाभिमुखकारित्वादिना-ऽसम्प्रज्ञाताङ्गत्वेपि योगत्वमस्ति क्लेशादीनां प्रतिपक्षित्वादिति तत्त्वम् ।

स्यादेतत् । चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्त्रिगुणम् । तत्र प्रख्या तत्त्वज्ञानं तदुपलक्षिताः प्रसादलाघवप्रीत्यादयः सात्त्विकाः । प्रवृत्तिशीलत्वाद्रजोगुणं परितापशोकादयो राजसाः । प्रवृत्तिविरोधिनी स्थितिः तच्छीलत्वात्तमोगुणं गौरवावरणदैन्यनिद्रादयस्तामसाः । एतेनैकमपि चित्तं त्रिगुणनिर्मिततया गुणानां च वैचित्र्येण परस्परविमर्दवैचित्र्याद्विचित्रपरिणामं सत् पञ्चावस्थमुपपद्यत इत्युक्तं भवति । पञ्चावस्था तु क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति । तत्र सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरं क्षिप्तम् । तच्च दैत्यदानवादीनां वा द्रविणमदभ्रान्तानां विषयिणां पुरुषाणां चित्तम् । तमःसमुद्रेकान्निद्रादिवृत्तिमन्मूढम् । तच्च रक्षःपिशाचादीनां मादकद्रव्योन्मत्तानां पामराणां च चित्तम् । विक्षिप्तं क्षिप्ताद्विशिष्टं विशेषोऽस्थैर्यबहुलस्य कादाचित्कं स्थैर्यम् अस्थैर्यं च स्वाभाविकं वा व्याधिस्त्यानाद्यन्तरायजनितं वा तच्च देवानां ब्रह्मजिज्ञासूनां विवेकिनां च पुरुषाणां चित्तम् । एकाग्रमेकतानम् । निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धम् । तत्र क्षिप्तमूढयोः सत्यपि परस्परापेक्षया वृत्तिनिरोधसम्भवे पारम्पर्येणापि निःश्रेयसभावाभावात्तदुपघातकत्वाच्च नैव योगसम्भवः । विक्षिप्ते चेतसि कादचित्कः समाधिः सद्भूतविषयस्य चित्तस्य स्थेमा न योगपक्षे वर्त्तते यतः स समाधिः स्वविपक्षविक्षेपोपसर्जनीभूतः (अप्रधानीभूतः) क्लेशादिनिवृत्तिस्वकार्याक्षमत्वात् । न खलु दहनान्तर्गतं त्रिचतुःक्षणावस्थितं बीजमुप्तमप्यङ्कुराय कल्पत इति । यस्त्वेकाग्रे चेतसि समारोपितं सद्भूतमर्थं (परमार्थभूतं) प्रद्योतयति साक्षात्कारयति क्षिणोति च क्लेशान् विवेकमुत्पाद्य, कर्मरूपाणि बन्धनानि श्लथयति अदृष्टोत्पादनाक्षमाणि करोति निरोधमभिमुखं करोति च स सम्प्रज्ञातो योगः । चित्तसत्त्ववृत्त्या सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते संवेद्यो यस्मिन्नवस्थाविशेषे स सम्प्रज्ञातः(१) स च चतुर्विधः वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इति । एतेषां लक्षणानि वितर्कादि १७ सूत्रे वक्ष्यन्ते । सात्त्विकीं वृत्तिमुपादाय सम्प्रज्ञाते चित्तं निरुद्धमित्युच्यते असम्प्रज्ञाते तु सर्वासामेव वृत्तीनां निरोधः तत्र न किञ्चिदपि सम्प्रज्ञायते स एव निर्बीजः समाधिरिति बोध्यम् ॥ २ ॥

ननु शान्तघोरमूढतत्तदाकारपरिणतबुद्धिविषयकबोधसाक्षी पुरुषः सदानुभूयते सर्वैः न तु बुद्धिबोधरहितः अतोऽस्य पुरुषस्य बुद्धिबोधः स्वभावः सवितुरिव प्रकाशः निरुद्धे चेतसि बुद्धिवृत्त्यभावात्काष्ठवदप्रकाशरूपः तिष्ठति किं वा प्रकाशरूपः । न च संस्कारशेषे चेतसि सोऽस्ति, न च स्वभावमपहाय भावो भवितुमर्हति । व्युत्थानसमये तु तत्तदाकारपरिणतबुद्धिसन्निधानाच्चेतायिता भवतीति, निरुद्धे चेतसि किं स्वभावो भवेत्पुरुष इत्याशङ्क्याह—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तदा तदानीं चित्तस्य सकलवृत्तिनिरोधे द्रष्टुः पुरुषस्य स्वस्य रूपं चैतन्यमनौपाधिकं न तु बुद्धिबोधः शान्तादिरूपः, औपाधिको हि सः स्वभावस्वच्छस्य स्फटिकस्येव जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरुणिमा स्वरूपस्य चाभेदेपि विकल्पोधिकरणभाव उक्तः तत्रावस्थानं स्थितिर्भवति, यथा कैवल्ये चितिशक्तिः स्थिता भवति तथा स स्थितो भवतीत्यर्थः । वस्तुतस्तु व्युत्थितचित्तेऽपि न कूटस्थनित्या चितिशक्तिः स्वरूपाच्च्यवते तेन तदानीमसम्प्रज्ञातसमानापि परन्तु व्युत्थितचित्ते तथा न प्रकाशते

(१) सं सम्यक् संशयविपर्ययानध्यवसायरहितत्वेन प्र प्रकर्षेण विशेषरूपेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन भावनाविशेषेण स सम्प्रज्ञातः भावना च विषयान्तरपरिहारेण पुनः पुनर्निवेशनं चित्तवृत्तिविशेषः । एतत्सर्वं एतदग्रसूत्रे स्पष्टम् ।

तत्रत्ताविद्याया विक्षेपावरणशक्तिस्वभावाद्(१) निरोधसमाधिमपेक्ष्य सम्प्रज्ञातोपि व्युत्थानमेव तच्च क्षिप्तमूढविक्षिप्तमित्यवस्थात्रयमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥

ननु यदि तथा न प्रकाशते तर्हि केन प्रकारेण प्रकाशत इत्याशङ्क्याह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

दर्शितविषयत्वात् । दर्शितविषयत्वादिति भाष्यम् । इतरत्र व्युत्थाने क्षिप्तमूढविक्षिप्तैतत्त्रितयावस्थायामिति यावत्, द्रष्टुरित्यस्याधिकारः, या वृत्तयश्चित्तपरिणामाः शान्तघोरमूढरूपास्तासां सारूप्यं समानमेकरूपं यस्य तथात्वं तदाकारत्वमित्यर्थः । यादृश्यः सुखदुःखमोहादिविषयाकारात्मिका वृत्तयः प्रादुर्भवन्ति तादृक्स्वरूपत्वं तस्येति पर्यवसितोर्थः । जपाकुसुमोपहितस्फटिकमणौ लोहितिमप्रतीतिरिव बुद्धिपुरुषयोः सन्निधानादभेदबोधे बुद्धिवृत्तीः पुरुषे समारोप्य शान्तोऽस्मि दुःखितोऽस्मीत्यध्यवस्यति यथा मलिने दर्पणतले प्रतिबिम्बितं मुखं मलिनमारोप्य शोचयत्यात्मानं मलिनोऽस्मीति ॥ ४ ॥

वृत्तिभेदं विवृणोति—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः (२) ॥ ५ ॥

वृत्तयश्चित्तपरिणामाः पञ्चतय्यः पञ्चावयवाः अनुपदवक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्चप्रकारा भवन्ति ता अपि क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयानां क्षेत्रीभूताः (धर्माधर्मवासनासमूहानां प्रसवभूमयः) क्लिष्टाः क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराक्रान्ता उच्यन्ते। बुद्धिसत्त्वपुरुषविवेकख्यातिविषया अत एव गुणाधिकार(३)विरोधिन्योऽक्लिष्टाः क्लेशैरनाक्रान्ता इत्यर्थः । यथा अक्लिष्टवृत्तिमध्यपातिनीभिः क्लिष्टाभिरनभिभूता अक्लिष्टा स्वसंस्काररपरिपाकक्रमेण ता एव (क्लिष्टा एव तावदभिभवन्ति(४)न तथा क्लिष्टा अक्लिष्टा अभिभवन्ति क्लिष्टवृत्तिप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टा अक्लिष्टा एव भवन्ति न खलु शालग्रामे किरातशतसंकीर्णे प्रतिवसन् ब्राह्मणः किरातो भवति किन्तु विरोधिमध्यपातित्वान्न कार्यकारिता(५)तासां (अक्लिष्टवृत्तीनां) सम्भवतीति भावः। तस्मादक्लिष्टा उपादाय क्लिष्टा निरोद्धव्याः ता अपि (अक्लिष्टा अपि परवैराग्येणेति(६) परमार्थः ॥ ५ ॥

ताः संज्ञाभिरुद्दिशति—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा स्मृतयः ॥ ६ ॥

पञ्चतय्यस्ता एतावत्य एव वृत्तयो भवन्ति नापराः सन्तीति दर्शितं भवति ॥ ६ ॥

तत्र प्रमाणं विभजते—

प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा तत्करणं प्रमाणम् । तत्र सकलप्रमाणमूलत्वात्प्रथमतः प्रत्यक्षं लक्षयति भाष्यकारः—'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषरूपार्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति' । इन्द्रियाण्येव प्रणालिका चित्तवृत्तिसञ्चरणमार्गस्तयेत्यर्थः । तद्विषया उपरक्तवस्तुविषया सामान्यार्थस्य घटत्वाद्यवच्छिन्नार्थस्य विशेषार्थस्य

---

(१) विक्षेपावरणशक्तिस्वभावादिति । अविद्यायाः शक्तिद्वयमस्ति आवरणशक्तिर्विक्षेपशक्तिश्च। तत्रावरणशक्तिर्यथाऽल्पोपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलं द्रष्टृनयनपथपिधायकतयाऽऽवृणोतीव न दर्शयति तथा बुद्धिसत्त्वस्याभेदाध्यासाच्चतुराऽविद्याधर्मावरणशक्त्याऽऽवृता चितिशक्तिर्न प्रकाशते एवं विक्षेपशक्तिश्चित्तं विक्षिपति नानाविषयेष्वासक्तं करोतीत्यर्थः ।

(२) क्लिष्टा अक्लिष्टा इति पाठान्तरम् ।

(३) गुणाधिकारः देहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलकं कर्म विवेकख्यातिपर्यवसानं कार्यारम्भणम् ।

(४) अभिभवन्ति कार्यारम्भणाक्षमं कुर्वन्ति ।

(५) कार्यकारिता सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपेत्यर्थः ।

(६) परवैराग्येणेति । असम्प्रज्ञातयोगलाभायेति भावः ।

घटादीनां तत्तदवयवगतरूपविशेषस्य विशेषावधारणं विशेषरूपेण निश्चयः तत्प्रधानो यस्यां सेत्यर्थः। इन्द्रियद्वाराऽर्थसन्निकर्षानन्तरं जायमाना या अयं घट इत्याद्याकारा चित्तवृत्तिस्तस्या यो बोधस्तत्तदर्थोपरक्तचित्तवृत्तिविषयकोऽहं घटं जानामीत्याकारकानुभवः पौरुषेयः स प्रमाणभूतायाश्चित्तवृत्तेः फलम्। स चायं फलभूतश्चित्तवृत्तेर्बोधो न बौद्धः किन्तु बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या निरवयवित्वेनापरिणामिनोपि पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात्पौरुषेय इत्यभिधीयते। तथाच पुरुषस्य प्रमासाक्षित्वं न प्रमातृत्वं न च ज्ञानादिसमवायित्वमुक्तयुक्तेः। ये ऽनित्यास्ते ते परिणामात्मका एवेति सर्वसाधारणानुभवाच्च चितिचित्तयोरभेदग्रहात्पुरुषः उपचर्यमाणोपि बोधो वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव न तु पुरुषे तस्यासङ्गत्वात्, तथाचोक्तं पञ्चशिखाचार्येण "प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायत" इति। अन्यच्च—

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥ इति॥

श्रुतिरपि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः ध्यायतीव लेलायतीवे"त्यादि। यथा अर्थसन्निकृष्टेष्विन्द्रियेषु सत्सु बुद्धितत्त्वस्य तमोभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसायो बुद्धिवृत्तिः प्रमाणम्। तदनेन चितिशक्तेरनुग्रहः स्वप्रतिबिम्बिते चैतन्ये स्वधर्माणां समर्पणं प्रमेति भवति। अत एवैतद्भाष्ये पौरुषेयबोधस्यैव प्रमात्वं न बौद्धबोधस्येत्युक्तम्। अत एव सम्वेदिन्या बुद्धेः प्रतिरूपस्तत्तादात्म्याऽऽपन्नत्वेन तत्समानाकार आत्मा प्रतिसम्वेदीत्युच्यते बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसम्वेदित्वं पुंसः। तथाच यथा हि अन्तरेणापि चन्द्रमसः क्रियामुपसंक्रान्तचन्द्रप्रतिबिम्बममलं जलं स्वयं चलं सत् अचलमपि चन्द्रमसं चलमिवावभासयति तथा विनापि चितिव्यापारमुपसंक्रान्ताचितिप्रतिबिम्बा बुद्धिरसंक्रान्तामपि चितिशक्तिं स्वगतया ज्ञानादिक्रिययाऽवभासयन्ती सती प्रमातृभावमापादयति। उक्तं चादित्यपुराणे—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसन्निधिसत्तया।
यथा यथा भवेद्बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते॥ इति।

साङ्ख्यप्रवचनभाष्येपि "पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमाते"त्युक्तम्। यच्चोक्तं-बुद्धेरेव प्रमातृत्वे पुरुषो न सिद्ध्येत्—प्रमाकर्तृत्वाभ्युपगमेन द्रष्टृत्वस्यापि तत्र लाभादिति, तदपि फल्गु न केवलं बुद्धितत्त्वं प्रमातृ किन्तु चितिसान्निध्येन तदुपरागात्प्रमाकर्तृत्वं—

तस्मा(१)त्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥

इत्यादिसांख्यस्मृतिभ्यरुपसंक्रान्तचितिप्रतिबिम्बमेव तत्प्रमातृ। तथा च प्रतिबिम्बत्वान्यथानुपपत्त्या बुद्धिसाक्षितया च पुरुषसिद्धौ न काप्यनुपपत्तिरिति दिक्।

---

(१) ननु कृतिर्बुद्धिसत्त्वनिष्ठा चैतन्यमात्मनिष्ठं कथं तर्हि जानाम्यहमिदं करोमीति कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यप्रतीतिस्तत्राह—तस्मादिति। यतः चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे तस्माद्भ्रान्तिबीजमित्यर्थः। किं भ्रान्तिबीजमित्यत आह—संयोगादिति। तस्य पुरुषस्य संयोगः सान्निधानं प्रतिबिम्बवत्त्वं तस्मादचेतनमपि लिङ्गं चेतनावदिव जानामीति ज्ञानवदिव भवति एवं गुणकर्तृत्वे गुणः सुखदुःखमोहरूपः कर्तृत्वं च कृतिमत्त्वं तथा बुद्धिनिष्ठमात्मनि प्रतिबिम्बितं भवति तेनोदासीनः पुरुषः कर्त्तेव भवति (यथा चैतन्यवत्पुरुषबिम्बवत्त्वाल्लिङ्गं बुद्धितत्त्वमचेतनमपि चेतनावदिव भवति तथा कृतिसुखदुःखमोहादिवल्लिङ्गप्रतिबिम्बितत्वात्पुरुष उदासीनोपि करोमि सुखी दुःखीति कर्त्तेव भवतीत्यर्थः) अतो जानाम्यहं करोम्यहमिति प्रत्ययो धर्मिणोरभेदग्रहादिनियमेन धर्मसंसर्गग्रहरूपो भ्रम एव तयोस्तथात्वनिश्चयादिति संक्षेपार्थः।

अनुमानं लक्षयति यथाऽनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । जिज्ञासितधर्मविशिष्टो धर्मी अनुमेयः यथा धूमविशिष्टो वह्निः । तुल्यजातीयेष्वनुवृत्त इत्यनेन साधनधर्मस्य धूमत्वस्य विरुद्धत्वमसाधारणधर्मत्वं साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगिरूपं निराकृतम् । भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्त इत्यनेन साधारणानैकान्तिकत्वं निराकृतम् । सम्बध्यते इति सम्बन्धो लिङ्गम् । अनेन पक्षे हेत्वाभावरूपा स्वरूपासिद्धता निराकृता । तद्विषयेति । विषिणाति निबध्नातीति विषयः स विषयो निबन्धनो हेतुर्यस्याः सा तथा । सामान्यावधारणेत्यनेन चाक्षुषाद्यवच्छिन्नत्वमित्यर्थः । गृहीतलिङ्गाल्लिङ्गिनि व्याप्तिज्ञानाधीनः सामान्याध्यवसायोऽनुमानमिति पर्यवसितोऽर्थः । आगमं लक्षयति आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः । यस्यागमस्य वक्ताऽश्रद्धेयार्थः (अनाप्तः स्वबुद्ध्यभ्यूहितार्थवादी) स आगमः प्रामाण्यपथं नाश्नुते प्रमावृत्तिजननासमर्थ इति यावत् मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवो भवेदागम इति । यथाहुः—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयोहि सः ॥ इति ॥ ७ ॥

विपर्ययं लक्षयति—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

अतद्रूपप्रतिष्ठमित्यत्र नञ् प्रसज्यप्रतिषेधार्थः यज्ज्ञानप्रतिभासिरूपं तद्रूपाप्रतिष्ठमेवातद्रूपप्रतिष्ठम् । अयमर्थः यत्प्रकारकं यद्विशेष्यकं रूपं ज्ञानेन प्रतिभासते तस्मिन् रूपे यज्ज्ञानं न प्रतिष्ठते किन्तूत्तरकालिकज्ञानेन बाध्यते तज्ज्ञानमेककोटिकं द्विकोटिकं वा सर्वं तद्रूपाप्रतिष्ठत्वेनातद्रूपप्रतिष्ठमुच्यते । एतेनातथाभूतेऽर्थे यथोत्पद्यमाना ज्ञानात्मिका वृत्तिर्विपर्यय इति फलति तेन संशयोपि संगृहीतः । विकल्पस्यापि वस्तुतस्तद्रूपाप्रतिष्ठानाद्विपर्ययत्ववारणाय मिथ्याज्ञानमिति विशेषणम् । अनेन हि सर्वजनीनानुभवसिद्धो बाध उक्तः स चास्ति विपर्यये न तु विकल्पे तेन व्यवहारप्रचारात् । यतो विपर्ययः प्रमाणेन बाध्यते ऽतो न प्रमाणम् यथा श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुत्या बाध्यमानायाः स्मृतेर्न प्रामाण्यं तथेहापीति बोध्यम् ॥ ८ ॥

विकल्पवृत्तिं व्याख्यातुमाह—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनुपतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती वस्तुतस्तथात्वमनपेक्षमाणोऽध्यवसायो विकल्पः । एतदुक्तं भवति क्वचिदभेदे भेदमारोपयति यथा पुरुषस्य चैतन्यं रूपमित्यत्र चैतन्यस्वरूपपुरुषभेदं चैतन्ये, तथा राहोः शिर इत्यत्र च । क्वचित्पुनर्भिन्नानामभेदम् यथा अयःपिण्डं दग्धृ इत्यत्र भिन्नेऽभेदम् । यतो वह्निनिष्ठं दग्धृत्वं न तु लौहपिण्डनिष्ठमिति अध्यवसितस्य भेदस्याभेदस्य च वस्तुतोऽभावात्तदाभासो विकल्पो न प्रमाणं नापि विपर्ययः व्यवहाराविसंवादात् । एवं तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इत्यत्र वर्त्तमानत्वादिविशिष्टं गतिनिवृत्तिरूपं स्थाधात्वर्थमात्रं पारमार्थिकतया प्रतीयते कृतिमत्त्वरूपस्य कर्त्तृत्वस्य वर्त्तमानत्वादिकः प्रत्ययार्थस्तु विकल्पितः बाणे गतिनिवृत्त्यनुकूलकृत्यभावात् ॥ ९ ॥

निद्रां व्याख्यातुमाह—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामिति शेषः । (१)तासामभावस्तस्य प्रत्ययः कारणं बुद्धिसत्त्वाच्छादकं तमस्तदेवालम्बनं विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा समस्तविषयपरित्यागेन या तमोमयी वृत्तिः सा

---

(१) तमसाऽनावृतबाह्येन्द्रियकालिका वृत्तिर्जाग्रत् । तमःप्रावृतबाह्येन्द्रियकालिका वृत्तिः स्वप्नः ॥

निद्रेति यावत् । बुद्धिसत्त्वे हि त्रिगुणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकमाविरास्ते तमस्तदा बुद्धेर्विषयाकारपरिणामाभावादुद्भूततमोमयीं बुद्धिमवबुध्यमानः पुरुषः सुषुप्तोऽन्तःप्रज्ञ इत्युच्यते सा च (निद्रा वृत्तिः) जाग्रदवस्थायां सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे स्वच्छीकरोतीत्यादिस्मरण-सद्भावात्प्रत्ययविशेषो भवति (१)असति सौषुप्तेऽभावप्रत्ययानुभवे प्रबुद्धस्याभावप्रत्ययविषयाः स्मृतयो न भवेयुः अननुभूतस्य स्मृत्याविषयत्वात् (२)एवं चाधिकृतं हि वृत्तिपदमनुवादकं पूर्वोक्तप्रमाणविपर्यय-विकल्पस्मृतीनां वृत्तित्वं प्रति परीक्षकाणामविप्रतिपत्तेरतस्तदनूद्यते विशेषविधानाय । निद्रायास्तु वृत्तित्वे परीक्षकाणामस्ति विप्रतिपत्ति (विशेषेण ज्ञानं) रिति वृत्तित्वं विधेयम्(३) एतत्सर्वमर्थाधि-कारपक्षे, शब्दाधिकारपक्षे तु स्पष्टार्थमेव (४)वृत्तिपदमिति बोध्यम् । यद्यपि एकाग्रतुल्यापि निद्रा तथापि तामसत्वेन सबीजनिर्बीजसमाधिप्रतिपक्षेति सा निरोद्धव्येत्यर्थः ॥ १० ॥

स्मृतिं व्याख्यातुमाह—

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रमाणादिभिरनुभूते विषये वृत्तितदारूढार्थरूपे योऽयमसंप्रमोषोऽस्तेयः अनपहरणमिति यावत् । संस्कारमात्रजन्यस्य हि ज्ञानस्य संस्कारकारणानुभवेनावभासितो विषय आत्मीयः (५)तदधिकविषयप-रिग्रहस्तु संप्रमोषः स्तेयः । अनुभूतविषयस्य संस्कारद्वारेण बुद्धौ य आरोहस्तदात्मिका वृत्तिः स्मृति-रित्यर्थः । यद्वा उभयपदे (६)ग्रहविशेषेऽन्यपदार्थे बहुव्रीहिः ततः कर्मधारयः भूतकालिकानुभवो यस्त-द्विषयविषयकः संप्रमोषशून्यवृत्तिविशेषः स्मृतिरिति तदर्थः । एतेन देशकालान्तरानुभूतस्य पित्रादे-रतीतस्य स्वप्नेऽननुभूतचरदेशकालसम्बन्धदर्शनेन तद्वृत्तौ संप्रमोषान्नातिव्याप्तिः(७)। सा हि द्विधा भा-

---

(१) प्रत्ययविशेषो भवतीति । ननु सुषुप्तौ बुद्धेर्विषयाकारपरिणामाभावात्कथं सुखानुभवो भवे-दिति चेदुच्यते । यथा जडस्य बुद्धिसत्त्वस्य वृत्तयः स्वीक्रियन्ते तथा जाग्रदवस्थायां सुखमहमस्वाप्स-मित्यादिस्मृत्युद्भवबलाच्चैतन्यप्रदीप्ततमसः सूक्ष्मा वृत्तयः स्वीक्रियन्ते ताभिः सुखमात्रानुभवो भवति । यथा च प्रलयकाले आनन्दमयकोशेऽन्तःकरणवृत्त्यभावेनानन्दानुभवासम्भवः अतस्तत्राभायान्तः-करणवृत्तिवत् चैतन्यप्रदीप्ताज्ञानस्यापि सूक्ष्मा वृत्तयोऽङ्गीक्रियन्ते वेदान्तिभिः ताभिर्वृत्तिभिरानन्दमात्र-मनुभवति तथा ऽत्रापीति बोध्यम् ।

(२) स्मृत्यविषयत्वादिति । अनुभवजनितसंस्कारस्य स्मृतिजनकत्वादिति तदाशयः ।

(३) वृत्तित्वं विधेयमिति । न हि प्रकृतमनुवादकं वृत्तिपदं विधानाय कल्पते न खल्वन्यत्प्रकृतम-नुवर्त्तमानादन्यत् भवति । न हि देशान्तरं सर्पन्ती सती गोधा गोधात्वमपहाय सर्पत्वं भजतीति भावः ।

(४) स्पष्टार्थमेवेति । अर्थो हि धर्माध्यासं न सहते शब्दस्तु येनानुषज्यते तेन योग्यतामपे-क्ष्यैव सम्बध्यते शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते तस्य तस्य विशेषको भवतीति ।

(५) आत्मीय इति । प्रमाद्यनुभवो हि स्मृतेः पिता तज्जनितसंस्कारजातत्वात् तस्य विषयः स्मृ-तेरात्मीयः । लोके पितुः स्वं स्वमिव पुत्रस्यात्मीयम् तस्याश्च स्वकारणानुभवा विषयः परस्वं तद्ग्रहः सं-प्रमोषः स्तेयः तदग्रहोऽसंप्रमोष इत्यर्थः ।

(६) उभयपद इति । अनुभूतोऽनुभवविषयो विषयो यस्मिन् ग्रहविशेषे सोऽनभूतविषयः न संप्रमो-षो यस्मिन् ग्रहविशेषे सोऽसम्प्रमोषः अनुभूतविषयश्चासौ असम्प्रमोषाऽनुभूतविषयासम्प्रमोष इति तदर्थः।

(७) नातिव्याप्तिरिति । अयं भावः सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतार्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमय-न्ति स्मृतिस्तु न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति तद्विषया तदूनविषया वा भवति न हि तदधिकविषया स्व-प्ने तु देशकालान्तरानुभूतस्य पित्रादेरतीतस्याननुभूतचरदेशकालसम्बन्धदर्शनेन तादृशवृत्तेः संप्रमो-षत्वान्न वस्तुतः स्मृतित्वम् किन्तु स्मृत्याभासत्वम् तदर्थमेवासम्प्रमोष इति विशेषणम् तस्या वृत्तेर स-न्निहितविषयत्वेन प्रमाणाजन्यज्ञानत्वेन च स्मृतिसादृश्यात्स्मृत्युपचार इत्याशयेनोक्तं भाष्यकृता सा द्व-यी भावितस्मर्त्तव्येत्यादि । नेयं स्मृतिरपि तु विपर्ययः तल्लक्षणोपपन्नत्वादिति कण्ठरेणाह वाचस्पतिः जाग्रदवस्थायां यत्स्वप्नज्ञानं तत्स्मृतिरेव असंप्रमोषत्वादिति ।

वितस्मर्त्तव्या अभावितस्मर्त्तव्या च स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या भावितः कल्पितः स्मर्त्तव्यो यया वृत्त्या सा तथोक्ता। अभावितोऽकल्पितः पारमार्थिकः स्मर्त्तव्यो यया वृत्त्या सा अभावितस्मर्त्तव्या जाग्रत्समये इति। सर्वाः स्मृतयः प्रमाणादिजनितसंस्काराद्भवन्ति ताः सुखदुःखमोहात्मिकाः सर्वा निरोद्धव्याः आसां निरोधे संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातो वा भवतीति ॥ ११ ॥

प्रमाणादिवृत्तिनिरोधे उपायमाह—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यामिति समुच्चयः। तत्र वैराग्येण विषयश्रोतः (अविवेकश्रोतः) खिलीक्रियते (बध्यते) विवेकदर्शनाभ्यासेन (१)विवेकश्रोत उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः। उभयोर्ल्लक्षणं वक्ष्यते ॥ १२ ॥

तत्राभ्यासस्य स्वरूपप्रयोजनाभ्यां लक्षणमाह—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तत्र तयोर्मध्ये स्थिताविति निमित्तसप्तमी यत्न इति स्वरूपाख्यानम् स्थिताविति च प्रयोजनाभिधानम्। राजसतामसवृत्तिरहितस्य चित्तस्य सात्त्विकवृत्तिवाहितैकाग्रता च स्वरूपनिष्ठः (आत्मनिष्ठः) परिणामः स्थितिः तस्यां तन्निमित्तो यत्न उत्साहः। स्थितेः संपादनेच्छया तत्साधनस्य पुनःपुनरनुष्ठान (चेतसि निवेसनं) मभ्यास (२) इत्युच्यते ॥ १३ ॥

तं विशेषयति—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

अनादिपरिपन्थिना व्युत्थानसंस्कारेण प्रतिबद्धोऽभ्यासो दीर्घकालेन नैरन्तर्येण च सत्कारेण ब्रह्मचर्येण तपसा विद्यया च आसेवितः सम्पादितश्चेत् दृढभूमिर्दृढावस्थो भवति। न सहसा व्युत्थानसंस्कारैरभिभूतस्थितिको भवति व्युत्थानसंस्कारप्राबल्येनादृढभूमिरभ्यासः फलाय न भवेदिति त्रयमुपात्तं विशेषणानां सूत्रकृतेति बोध्यम् ॥ १४ ॥

वैराग्यमाह—

दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च। तत्र दृष्टः इहैव लोके उपलभ्यमानश्चेतनाचेतनरूपः। अनुश्रूयते गुरुमुखादनुश्रवो वेदः तस्मात्समधिगतः स्वर्गादिरानुश्रविकः। तयोर्द्वयोर्विषययोः परिणामविरसत्व(३)दर्शनाद्वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयेषूपस्थितेष्वपि चित्तस्य हेयोपादेयशून्या (रागद्वेषशून्या) या उपेक्षाबुद्धिः सा वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। उपस्थितेष्वपि दिव्यादिव्यविषयेषु औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिर्वशीकारसंज्ञा (४)एतयैव च यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा एतासां गतार्थत्वान्न पृथगुपादानम् ॥ १५ ॥

---

(१) विवेकदर्शनाभ्यासेनेति। चेतनानाम्नी नदी उभयतो वाहिनी कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यमेव प्राग्भारः जलप्रवहणायोग्योच्चदेश इव बन्धो यस्याः सा कैवल्यप्राग्भारा विषयविवेकनिम्ना निम्नं गम्भीरोऽगाधो नीच देशश्च सा कल्याणवहा या संसारप्राग्भारा अविवेकविषयनिम्ना सा पापवहेति तदाशयः।

(२) विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाह अभ्यास इति पर्यवसितार्थः।

(३) विरसत्वेति। तत्परिणामस्याधिभौतिकादिदुःखकारणत्वादित्याशयः।

(४) ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति विमर्षो वशीकारः।

अपरं वैराग्यमुक्त्वा परमाह—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

अपरवैराग्यस्य परवैराग्यं प्रति कारणत्वम् तत्र च द्वारमादर्शितं भाष्यकृता यथा दृष्टानुश्रविक-विषयदोषदर्शिनो विरक्तस्यागमानुमानाचार्योपदेशसमधिगतपुरुषदर्शनाभ्यासोद्भूतगुणपुरुषविवेकख्या-तिः पुरुषः शुद्धोऽनन्तस्तद्विपरीता गुणा इति ततो गुणवैतृष्ण्यं गुणमात्रविषयकतृष्णारहितत्वं निरोध-समाधेरत्यन्तानुकूलम् अत एव तत्परं पूर्वोक्तवैराग्यादुत्कृष्टं भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां निरुद्धराजसतामसवृत्तिचित्तस्य योगिनः कथं कैः प्रकारभेदैः सम्प्रज्ञातसमा-धिर्भवतीत्याह—

वितर्कविचाराऽऽनन्दाऽस्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानां रूपैः स्वरूपैरनुगमात् साक्षात्कारात् सम्प्रज्ञातः सम्यक् संशयवि-पर्ययरहितत्वेन प्रकर्षेण विशेषरूपेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन भावनाविशेषेण स सम्प्रज्ञातः । तत्र पाञ्चभौतिके चतुर्भुजादिध्येयमूर्त्तौ यश्चित्तस्य आभोगस्तद्विषयकसाक्षात्कारवती प्रज्ञा स वितर्कः, स च स्थूलविषयत्वात्स्थूलः । एवं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्मशरीरे आभोगः स्थूलकारणीभूतसूक्ष्मतन्मा-त्रलिङ्गालिङ्गविषयः साक्षात्कारो विचारः । एवं ग्राह्यविषयं दर्शयित्वा ग्रहणविषयं दर्शयति आनन्द इति । इन्द्रिये स्थूले आलम्बने चित्तस्याभोगस्तद्विषयकसाक्षात्कार आह्लाद आनन्दः प्रकाशशीलतया सत्त्वप्रधानादहङ्कारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि सत्त्वं सुखमिति तान्यपि सुखानि । ग्रहीतृविषयकं सम्प्रज्ञात-माह एकात्मिका संवित् अस्मिता इति । अस्मिताप्रभवाणीन्द्रियाणि तेनैषामास्मिता सूक्ष्मं रूपम् । सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संविदिति । तस्यां च ग्रहीतुरन्तर्भावाद्भवति ग्रहीतृविषयः सम्प्र-ज्ञातः । एवञ्च तत्र चतुष्टयानुगतः (१) सवितर्कः प्रथमः, वितर्कविकलः सविचारो द्वितीयः, विचार-विकलः सानन्दस्तृतीयः, आनन्दविकलः सास्मितश्चतुर्थ इति चतुर्विधः सम्प्रज्ञातः सिद्धः । यदा तु (२)स्थूलालम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दोल्लेखशून्यत्वेन भावना वर्त्तते तदा स निर्वितर्कः । सूक्ष्मविष-यालम्बने देशकालधर्मानवच्छेदेन धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना वर्त्तते तदा स निर्विचारः सम्प्रज्ञातः । एवञ्च सानन्दः सास्मितश्च सम्प्रज्ञातः देशकालाद्यनुसन्धानरूपाविकल्पेन सह तद्रहितत्वेन च पुनर्द्विविध इति ता एव सबीजः समाधिरिति सूत्र ४६ व्याख्याने स्फुटीभविष्यति ॥ १७ ॥

असम्प्रज्ञातसमाधेरुपायस्वभावावाह—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विरम्यतेऽनेनेति विरामः वितर्कादिचिन्तापरित्यागो वृत्तीनामभावो वा तस्य प्रत्ययः कारणं परं वैराग्यं तस्याभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं (३)तदेव पूर्वं कारणं यस्य स विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार-शेषः निरालम्बनः (४)निर्वृत्तिक इति यावत् । अन्यः पूर्वोक्तात्सम्प्रज्ञाताद्विलक्षणोऽसम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिरित्यर्थः । उक्तं च—

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
असम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥ इति ।

---

(१) चतुष्टयानुगत इति । कार्यं हि कारणानुप्रविष्टं न कारणं कार्येन तदयं वितर्कः स्थूल आ-भोगः स्थूलसूक्ष्मेन्द्रियास्मिताकारणचतुष्टयानुगतो भवति । उत्तरेषु तु त्रिद्व्येककारणकात्रिद्व्येकरूपा भवन्तीति भावः ।

(२) स चतुर्विधः सम्प्रज्ञातो विकल्पाविकल्पभेदेन पुनर्द्विविध इत्याह—यदा त्विति ।

(३) पौनःपुन्येनानुष्ठानमिति । तत्र या काचित् वृत्तिरुल्लसति तस्या नैरन्तर्येण पर्युदसनं स विरामप्रत्ययाभ्यासः ।

(४) निरालम्बनः न आलम्बनं किञ्चिदपि वस्तु आश्रयो यस्य स तथेत्यर्थः ।

अयं भावः। चित्तपरिणामश्चतुर्विधः व्युत्थानं समाधिप्रारम्भ एकाग्रता निरोधश्चेति। तत्र क्षिप्तमूढ-विक्षिप्ताश्चित्तभूमयो व्युत्थानम् सत्त्वोद्रेकात्समाधिप्रारम्भः। एकाग्रतानिरोधौ चावधिभूमी प्रतिपरिणामं च तज्जनितसंस्कारा उद्भवन्ति। तत्र व्युत्थानजनितसंस्काराः समाधिप्रारम्भजनितसंस्कारैः प्रत्याहन्यते तज्जाताश्चैकाग्रताजैः संस्कारैः तज्जाता निरोधजनितैः संस्कारैः स्वरूपं च हन्यन्ते। यथा सुवर्णसंवलितं ध्मायमानं सीसमात्मानं सुवर्णमलं च निर्दहति तथैकाग्रताजनितसंस्कारान् स्वात्मानं च निरोधजाः संस्कारा निर्दहन्तीति ॥ १८ ॥

तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदं च संक्षेपेणोपायांश्चाभिधाय विस्तरेणोपाय योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकमुपक्रमते—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामनेन वेति भवः प्रकृत्याद्यनात्माभिमानरूपः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स तथा निरोधसमाधिरितिशेषः। अथवा भवोऽज्ञाननिबन्धः पुनः पुनरावृत्तिः स एव प्रत्ययः कारणं फलं यस्य तथा, विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्च तेषां भवप्रत्ययो निरोधसमाधिर्भवतीत्यर्थः अयं भावः। ये च भूतेन्द्रियाणि वा विकारान वा प्रकृतीर्वा महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राननात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्नास्तैष्टिका वैराग्यसम्पन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः शरीरपातानन्तरमिन्द्रियादिषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीर(१)रहिताः विदेहाः ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयुक्तेन चित्तेन कैवल्यपदमिवावृत्तिकत्वमनुभवन्तः (वृत्तिशून्यत्वं प्राप्नुवन्तः) स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकं जन्मना स्वरूपमतिक्रामन्ति। तथा प्रकृतिलयाश्च अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेऽन्यतमदात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमस्मिन् लीनाः अजनितसत्त्वपुरुषान्यताख्यातौ चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति तावद्यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्—प्रकृतिसाम्यमुपगतमपि चित्तमवधिं प्राप्य पुनरपि प्रादुर्भवतीति। तथाचोक्तं वायुपुराणे—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ॥ इति।

मन्वन्तराणीति सर्वत्र सम्बध्यते। सर्ववृत्तिनिरोधरूपासम्प्रज्ञातोऽपि द्विविधः तत्र प्रकृत्यादिलयप्रयुक्तो योऽसम्प्रज्ञातस्तस्याज्ञानपूर्वकत्वेन पुनरावृत्तिफलकत्वाद्भवप्रत्ययत्वम्। यस्तु वक्ष्यमाणश्रद्धाद्युपायलब्धजन्मा वृत्तिनिरोधस्तस्य परवैराग्यहेतुकत्वेन निर्वाणफलकत्वादुपायप्रत्ययत्वम् अयमेव च मुख्योऽसम्प्रज्ञातो योगो मुमुक्षुभिरुपादेयः। इतरस्तु योगाभासो हेय इति ॥ १९ ॥

योगिनां तु समाधेरुपायक्रममाह-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

---

(१) षाट्कौशिकशरीरेति।

रसाद्वै शोणितं जातं शोणितान्मांससम्भवः।
मांसात्तु मेदसो जन्म मेदसोऽस्थिसमुद्भवः॥
अस्थ्नो मज्जा समभवन्मज्जातः शुक्रसम्भवः।
शुक्राद्गर्भः समभवत्ततः पिण्डसमुद्भवः॥

इतिस्मृत्युक्तमांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राख्यषट्कोशनिर्वृत्तविधुराः विदेहाः प्रकृतिलयाश्चेति तदर्थः। प्रकृतिलयानां च विदेहेभ्योयं विभेदः सावरणब्रह्माण्डान्तर्गता एवाल्पमैश्वर्यं मलिनं च विषयं भुञ्जते। प्रकृतिलयास्तु सावरणब्रह्माण्डाद्बहिर्गमनेन विदेहान् प्रत्यपोशते स्वसङ्कल्पमात्रेण तत्रैव निर्मलं कारणसत्त्वनिर्मितं विषयं भुञ्जते त ईश्वरकोटय उच्यन्त इति कश्चिदाह।

इतरेषां विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानाम् । श्रद्धादिपञ्च पूर्वः कारणं यस्य स तथा, असम्प्रज्ञातो भवतीति शेषः । श्रद्धा चेतसस्तत्त्वविषय. सम्प्रसादोऽभिरुचिः अतीच्छेति यावत् । तया वीर्यमुत्साहो धारणाख्यः प्रयत्न उपजायते तस्माद्यमनियमादिपरम्परया स्मृतिर्ध्यानं तया अविक्षिप्तं चित्तं योगाङ्ग-समाधियुक्तं भवति यमनियमादिनान्तरीयकसमाध्युपन्यासेन च यमनियमादयोपि सूचिताः । तदेव-मखिलयोगाङ्गसम्पन्नस्य चित्तस्य प्रज्ञाप्रकर्षो गुणपुरुषान्यताख्यात्यभ्यासः सम्प्रज्ञात उपजायते येन यथावस्तु जानाति तदभ्यासात्तद्विषयकपरवैराग्याच्चासम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति स हि कैवल्यहेतुरित्यर्थः॥२०॥

ननु मृदुमध्याधिमात्रोपायादयो नवविधा योगिनो भवन्ति यथा मृदूपायः मध्योपायः अधिमात्रोपायः, तत्र मृदूपायोपि त्रिविधः मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगः, तथा मध्योपायोऽधिमात्रोपायोपि । एवं श्रद्धादयश्चयोगोपायास्तर्हि एतेषामविशेषेण समाधितत्फले स्यातां तथा तु न दृश्यते इति येषां समाधिस्तान् दर्शयति सूत्रेण—

(१)तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्र संवेगो वैराग्यं येषां तेषामधिमात्रोपायतीव्रसंवेगानामासन्नस्तादृशः समाधिः तेषामेवासम्प्रज्ञा-तसमाधिस्तत्फलं कैवल्यं च भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

तीव्रसंवेगस्यापि त्रैविध्यं विशेषत्वं चाह—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

तीव्रसंवेगस्यापि मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततः तद्भेदाद्विशेषः अधिमात्रोपायमृदुसंवेगस्य योगिन आसन्नः समाधिः तस्मादधिमात्रोपायमध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः तस्मादपि अधिमात्रोपायाधिमात्रतीव्रसं-वेगस्यासन्नतम इति विशेषः स समाधिस्तत्फलं चेत्यर्थः ॥ २२ ॥

नन्वेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवति किमन्योपि कश्चिदुपायोऽस्ति न वेत्यत आह—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

ईश्वरोऽनुपदवक्ष्यमाणलक्षणस्तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं विषयसुखादिकं फलमनि-च्छन् सर्वासां क्रियाणां तस्मिन् परमगुरावर्पणमिति यावत् । तस्मादासन्नतमः स समाधिस्तस्य तत्फलस्य च लाभो भवतीत्यर्थः । प्रणिधानादाभिमुखीकृत ईश्वर इदमस्याभिमतमस्त्वितीच्छामात्रेण तं भक्तमनुगृह्णातीतीश्वरेच्छामात्रं क्षिप्रं तयोर्लाभोपायान्तरमिति वाशब्दार्थः ॥ २३ ॥

ननु कोयमीश्वरो नामेत्याह—

क्लेशकर्मविपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लिश्नन्तीति क्लेशाः अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः, पञ्च कर्माणि कुशलाकुशलजनकक्रियाः, विपाक-स्तत्क्रियाफलं जात्यायुर्भोगाः, विपाकानुगुणा वासना आशयाः आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरते इति व्युत्पत्तेः । तैरपरामृष्टः त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः पुरुषविशेषः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति वि-शेषः ईश्वरः ईशनशीलः इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः । यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि चित्तगतास्ते तेषूपदिश्यन्ते यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनि व्यपदिश्येते तेन तथाभूतेन चित्तेन परामृष्टः सांसारिकः पुरुषश्चित्ताविवेकेन भोक्तृत्वात्तैः कालत्रयेपि संबद्धो व्यवह्रियते । एवं प्राकृतवैकारिकदाक्षिणिका नि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ता अपि मुक्तात्मानः प्रकृतिलीना विदेहाश्च न तथा पूर्वा बन्धकोटिः सर्वेषां समानैव । प्रकृतिलीनादयस्तु प्रकृत्यादिभावनासंस्कृतमानसा

---

(१) अधिकं प्रमाणं येषां ते अधिमात्रा उपायाः श्रद्धादयः प्रज्ञान्ताः ते च प्राणिनां प्राग्संस्का-रबलान्मृदुमध्याधिमात्रभेदाद्भवन्तिः । उपायतारतम्याच्चिरं चिरतरं क्षिप्रं क्षिप्रतरं सिद्धयोभवन्ति तत्र केषांचित् क्षिप्रतरं सिद्धिरित्यत आह तीव्रसंवेगानामिति—

बन्धत्रयं मुक्त्वा देहपातानन्तरमेव प्रकृत्यादिलयं प्राप्नुवन्ति तेषां हि उत्तरा बन्धकोटिरस्त्येव पुनरुत्पत्तिनियमात् । ईश्वरस्य च न तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी स हि सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।

ननुज्ञानक्रियाशक्तिमत्वं परमैश्वर्यं पुरुषस्यापारिणामिनः कथमिति । उच्यते । अस्तीश्वरस्यानादिसिद्धं शुद्धसत्त्वात्मकं प्रधानजं चित्तं निरतिशयज्ञानक्रियाशक्तिमत् । न च कथं चित्तोपादानात्प्रागिच्छाद्युदेतीति वाच्यम् । बीजाङ्कुरवत् (१)सर्गप्रलयप्रवाहस्यानादित्वात् । ननु तादृशचित्तसत्त्वे किम्मानमिति चेदुच्यते । स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, एष सर्वेश्वर इत्यादिवेदवाक्यमिति ॥ २४ ॥

किञ्च(२)—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

तत्र तस्मिन्नीश्वरे अतिशयान्निष्क्रान्तं निरतिशयं चरमकाष्ठां (३)प्राप्तं यदिदं बुद्धिसत्त्वावरकतमोपगमतारतम्येनातीतानागतवर्त्तमानानां प्रत्येकं समुच्चयेन च वर्त्तमानानामतीन्द्रियाणां प्रमेयमात्राणां ग्रहणमल्पं बहु च (४)सर्वज्ञस्य बीजं कारणं ज्ञापकमिति यावत् । एतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः । मनुष्यादीनां तु ज्ञानं निरतिशयेन ज्ञानेनाविनाभूतं भवति सातिशयत्वात् यद्यत्सातिशयं तत्सर्वं निरतिशयेन सजातीयेन युक्तम् यथा कुम्भादिपरिमाणं विभुपरिमाणेनेति भावः ॥ २५ ॥

एवमीश्वरं निरूप्य तस्य प्रभावमाह—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वे हि सर्गादावुत्पन्ना गुरवो ब्रह्मादयः स्रष्टारः कालेनावच्छिद्यन्ते स एष तेषामपि गुरुरुपदेष्टा । कुतः कालेन वर्षशतादिना तस्यानवच्छेदात् न स कालेनावच्छिद्यते अनाद्यन्तत्वादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्याद्या ॥ २६ ॥

एवं प्रभावमुक्त्वा उपासनोपायानाह—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

तस्य पूर्वोक्तमहिम्न ईश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः प्रणवः प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणवः ॐकारः तयोर्वाच्यवाचकभावसम्बन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते संकेतो हि अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः इदं पदमिममर्थं बोधयत्वितीश्वरेच्छारूपः । ईश्वरो वाच्यः । श्रुतिरपि प्रतिमायां 'विष्णुबुद्धिवदोंकारो ब्रह्मबुद्ध्योपास्यमानो ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायो भवत्यतस्तत्प्रतीकत्वेन तस्य वाचकः प्रणवः एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् इत्याह । योगियाज्ञवल्क्योऽपि—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेन हूतः प्रसीदतीति ॥ २७ ॥

वाचकमाख्याय प्राणिधानमाह—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

---

(१) बीजाङ्कुरवदिति । यदा सर्वकार्यस्य प्रलयस्तदा भविष्यत्कल्पे लोकानुग्रहार्थमिदं चित्तमुपादेयमिति भगवता संकल्प्यते तत्सङ्कल्पवासितं प्रधाने लीनं तत्सर्गादौ चित्तमुद्भवति तेन चेश्वरो नुगृह्णातीत्यनवद्यमिति भावः ॥

(२) एवमस्य क्रियाज्ञानशक्तौ शास्त्रं प्रमाणमभिधाय ज्ञानशक्तावनुमानं प्रमाणयतीत्याह किञ्चेति।

(३) चरमकाष्ठामिति । यतः परमतिशयवत्ता नास्ति तत् ।

(४) अल्पं बहु चेति कश्चित् किञ्चिदेवातीतादि गृह्णाति काश्चित् बहु कश्चिद्बहुतरमिति ग्राह्यापेक्षया ग्रहणस्याल्पत्वं बहुत्वं कृतमित्यर्थः ॥

तस्य सार्धत्रिमात्रिकस्य (१)प्रणवस्य जपो यथाविध्युच्चारणं मानसमुपांशुर्वा तदर्थस्य तद्वाच्येश्वरस्य भावनं पुनःपुनश्चेतसि निवेशनं च तस्माच्चित्तमेकाग्रं संपद्यते परमात्मन्यारमति परमात्मसाक्षात्कारवद्भवतीति यावत् । प्रणवजपानन्तरं योगमभ्यस्य तदनन्तरं च पुनः प्रणवं जपेत् । तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति ।

प्रणवजपपूर्वकेश्वरानुचिन्तनरूपेश्वरप्रणिधानस्य साक्षादेव मोक्षे हेतुत्वमुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म"त्यादिनेति ॥ २८ ॥

फलान्तरमप्याह—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ततस्तस्मात्प्रणवजपपूर्वकेश्वरचिन्तनात् प्रत्यक्चेतनाधिगमः प्रति प्रतीपं विपरीतमञ्चतीति प्रत्यक् स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यकंचेतनोऽविद्यावान् पुरुषो जीवः (तदनेन (२)ईश्वरात् शाश्वतिकसत्त्वोत्कर्षसंपन्नाद्विद्यावतो निवर्तयतीति भावः) यथैवेश्वरः शुद्धः संपन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी प्रत्यकचेतनोऽस्याधिगमो ज्ञानं स्वरूपतो भवति । अथवा विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणमभिमुखमञ्चति या चेतना सा प्रत्यक्चेतना दृक्शक्तिस्तस्या अधिगमो भवतीत्यर्थः । अन्तराया अनुपदवक्ष्यमाणलक्षणास्तदभावस्तेषामभावोऽनुद्भवः उद्भूतानां विनाशश्चेति ॥ २९ ॥

ननु केऽन्तराया इत्याशङ्क्याह—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्त्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपाः खल्वमी व्याधयो योगाच्चित्तं विक्षिपन्ति अपनयन्तीति विक्षेपा उच्यन्ते । ते नव अन्तरायाः (३)चित्तवृत्तिभिः सहैते भवन्ति एतेषामभावे न भवन्ति

---

(१) सार्धत्रिमात्रिकस्येति । तथा चापस्तम्बः—

त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः कर्मारम्भे तु सर्वशः ।
तिस्रः सार्धाश्च कर्त्तव्या मात्रा स्तत्त्वार्थचिन्तकैः ॥
देवताध्यानकाले तु प्लुतं कुर्यान्न संशयः ॥ इति ।

योगतत्त्वोपनिषदि—

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा । इति ॥

ध्यानबिन्दूपनिषदि—

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ॥
अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ।

योगचूडामण्योपनिषदि—

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥

(२) तद्विपरीताचरणमनेन प्रत्यक्चेतनकथनेन ।

(३) अन्तरायाः अन्तर्मध्ये आयान्तीत्यन्तरायाः योगविघ्ना इत्यर्थः ॥

पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तितया वृत्तिनिरोधप्रतिपक्षौ व्याधिप्रभृतयस्तु वृत्तिसाह-चर्यात्तत्प्रतिपक्षा एवेत्यर्थः। व्याधिः धातुरसेन्द्रियवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानं कर्मानर्हता चित्तस्य। संशय उभयकोट्यवलम्बनं ज्ञानं योगः साध्यो न वेति रूपम्। प्रमादोऽनवधानता समाधिसाधनेऽप्रयत्नः। आलस्यं कायस्य चित्तस्य च कफादिना तमसा च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिः चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्तृष्णाया मासक्तिः। भ्रान्तिदर्शनं तत्त्वेऽतत्त्वज्ञानमतत्त्वे तत्त्वज्ञानमिति विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं मधुमत्यादीनां समाधिभूमीनां कुतश्चिन्निमित्तादलाभः। अनवस्थितत्वं लब्धायामपि भूमौ तत्र चित्तस्यास्थितिः। नवैते समाधेरेकाग्रताया विरोधिनो योगान्तराया उच्यन्ते यथा एते नोत्पत्स्यन्ते तथा कार्यमित्यपि ग्रन्थस्याभिप्रायः॥ ३०॥

ननु न केवलं नवान्तरायाः सन्ति दुःखादयोप्येते तैः सह भवन्तीत्याह—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ ३१॥

दुःखं राजसः परिणामः प्रतिकूलवेदनीयं व्याधिवशाच्छारीरं कामादिवशान्मानसं चाध्यात्मिकम्। व्याघ्रादिजनितमाधिभौतिकम्। ग्रहादिपीडाजनितमाधिदैविकम्। तच्चेदं दुःखत्रयं प्राणिमात्रस्य प्रतिकूलवेदनीयतया हेयमित्याशयेन भाष्यकृत् लक्षणयति "येनाभिहताः प्राणिनस्तस्योपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखमिति"। दौर्मनस्यमिच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभो दौस्थ्यम्। अङ्गमेजयत्वं यदङ्गान्येजयति कम्पयति तत्स्थैर्यस्य बाधकमित्यर्थः। अनिच्छतः प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति प्रवेशयति स श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधी। प्रश्वासः अनिच्छतोपि प्राणो यत्कोष्ठ्यं वायुं निःसारयति स समाध्यङ्गपूरकविरोधी। एते विक्षेपैः सह भवन्ति विक्षिप्तचित्तस्य भवन्तीत्यर्थः॥ ३१॥

ननु समाधिप्रतिपक्षा विक्षेपा अभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ ३२॥

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वमीश्वरस्तस्मिन्नभ्यासः पुनः पुनश्चेतसि तस्य निवेशनं ध्यानं प्रणिधानमिति यावत्। स कार्यः ईश्वरमात्रावलम्बनं (१)चित्तमभ्यसेदित्यर्थः। तद्बलात्प्रत्युदितायामेकाग्रतायां ते विक्षेपाः प्रणाशमुपयान्तीति भावः। कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासः कार्य इत्यर्थ इति कश्चित्तदयुक्तं यथाभिमतध्यानाद्वेति वक्ष्यमाणसूत्रस्य प्रत्याख्येयत्वप्रसङ्गात्॥ ३२॥

---

(१) ईश्वरमात्रावलम्बनमिति। तत्र याज्ञवल्क्यः—

द्वाविंशतिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः।
हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम्।
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥

श्रुतिरप्याह—"आत्मेत्येवोपासीत तदात्मानमेवावेत् तमेव धीरो विज्ञाय तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादि। उपासना तु सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापारः स च ध्यानरूपः शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालनैरन्तर्यपितमनोवृत्तिस्थिरीकरणमिति तदर्थः। तत्त्वज्ञानाद्भेदार्थं मानसव्यापार इति, असंप्रज्ञातभेदार्थं सगुणमिति विशेषणम्। असंप्रज्ञाते निर्गुणं ब्रह्म निर्विकल्पतया विषयो भवति तत्र च मनसो लयेन तद्वृत्तेः स्वतोऽभावात्। मनसः स्थितावपि च निर्गुणस्य ध्यानं न सम्भवति निराकारत्वेनापरिच्छिन्नत्वेन च तदगोचरत्वात् निरुक्तदीपाकारप्रत्यगात्मध्यानन्तु (मानसव्यापारः) तथा भवति तस्य साकारत्वेन मनोगोचरत्वसम्भवात्। सगुणब्रह्मध्यानं च निर्विवादमेव तदुभयमत्र प्रणिधानमिति। शङ्खस्मृतौ सप्तमाध्याये—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

इदानीं चित्तसंस्कारापादकं परिकर्म (चित्तस्थैर्यहेतुचित्तप्रसादसाधनं) उपायान्तरमाह—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

हृदग्निश्चन्द्रमाः सूर्यः सोममध्ये हुताशनः ।
तेजोमध्ये स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितोऽच्युतः ॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तेजोमयं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥
वासुदेवस्तमोन्धानां पर्णैरपि पिधीयते ।
अज्ञानपटसंवीतैरिन्द्रियैर्विषयेच्छुभिः ॥
एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ।
एष धाता विधाता च पुराणो निष्कलः शिवः ॥
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
यं वै विदित्वा न बिभेति मृत्योर्नान्यो हि पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ इति ।

हृदग्निश्चन्द्रमाः सूर्यः सोममध्ये हुताशन इति क्रमाभिधाने हृन्मध्ये चन्द्रमा सूर्य इति पाठः शोभनः द्वितीयचरणस्वरसात् तदपि वस्तुमात्रप्रदर्शनं नतु स्थितिक्रमकथनम् । अग्रे ३६ सू० टि० सूर्यमण्डलोपरिचन्द्रमण्डलं तस्योपरिवह्निमण्डलमितिस्पष्टम् ।

हारीतस्मृतौ सप्तमाध्याये—

योगाभ्यासबलेनैव नश्येयुः पातकानि तु ।
तस्माद्योगपरो भूत्वा ध्यायेन्नित्यं क्रियापरः ॥

पुनस्तथा—

एकाकारमनाद्यन्तं बुद्धौ रूपमनामयम् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ध्यायेज्जगदाधारमच्युतम् ॥
आत्मना बहिरन्तस्थं शुद्धचामीकरप्रभम् ।
रहस्येकान्तमासीनो ध्यायेदामरणान्तिकम् ॥

फलान्तरमप्युक्तं मधुसूदनसरस्वतीधृतस्मृतौ—

सर्वपापप्रसक्तोपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ॥
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥ इति ।

ध्यानबिन्दूपनिषदि तु—

अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केशरान्वितम् ।
तस्य मध्ये स्थितो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥
शशिमध्यगतो वह्निस्तस्मिन्मध्यगता प्रभा ।
प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम् ॥ इत्युक्तम् ॥

आत्रेयस्मृतौ—

प्राणायामसहस्रेण यत्पापं नश्यते चिरात् ।
क्षणमात्रेण तत्पापं हरेर्ध्यानात्प्रणश्यति ॥

प्रायश्चित्ताधिकारे आङ्गिराः—

ध्यानेन सदृशं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
श्वपाकेष्वपि भुञ्जानो ध्यायी नैव तु लिप्यते ।

मैत्र्यादिचतुष्टयं(१)परिकर्म इत्युच्यते। तत्र मैत्री–सौहार्दं द्वेषाभावो न तु स्नेहः तस्य बन्धात्म-

---

ध्यानेनात्मध्यानेन, ध्यायी निदिध्यासनशीलवान्।

विष्णुपुराणे—

प्रातर्निशि तथासन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्।
नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयं नरः।
तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो मुने।
न याति नरकं शुद्धः संक्षीणाखिलपातकः।

एतेन श्रीवासुदेवोपासनाया अत्युत्कृष्टत्वमुक्तं भवति। अत एव 'एवं सततयुक्ता ये' इत्यादिना-र्जुनकृतप्रश्नस्योत्तरमुक्तं श्रीकृष्णेन—

मय्यावेश्यमनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धयापरयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ इति।

अस्य प्राणिधानस्य प्रकारमाह भगवद्गीतायाम्—

यथा योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ इति

पुनः—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ इति।

किञ्चानवरतमीश्वरार्पितचित्तेन भवितव्यम् तथोक्तं तत्रैव—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

पुनः—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ इति।

(१) मैत्र्यादिचतुष्टयं चोपलक्षणम्—'अभयं सत्त्वसंशुद्धि'रित्यादीनाममानित्वमदाम्भित्वमित्या-दिधर्माणामिति वेदितव्यम्।

कत्वात् सुखितेषु (साधुषु) मैत्रीं भावयतः ईर्ष्या(१) पराभ्युदयासहनं निवर्त्तते। दुःखितेषु करुणामात्मनीव परस्मिन् दुःखप्रहाणेच्छां कथन्नु एषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपां भावयतः परापकारचिकीर्षाकालुष्यं चेतसो निवर्त्तते। पुण्यवत्सु प्राणिषु मुदितां पुण्यानुमोदनहर्षं भावयतः परगुणेषु दोषाविष्करणमित्यसूयाकालुष्यं निवर्त्तते। अपुण्यवत्सु उपेक्षां माध्यस्थं नानुमोदनं न वा द्वेष्यं भावयतोऽमर्षकालुष्यं निवर्त्तते। एवं भावयतो राजसतामसधर्मनिवृत्तौ शुक्लधर्मोदयात्सत्त्वोत्कर्षसम्पन्नः सम्भवति। वृत्तिनिरोधपक्षे तस्य प्रसादस्वाभाव्याच्चित्तं प्रसीदति। वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्यः प्रसन्नमकाग्रस्थितिपदं लभते असत्यां मैत्र्यादिभावनायां न ते उपायाः स्थित्यै (२)कल्प्यन्त इति भावः ॥ ३३ ॥

इदानीं तान् स्थित्युपायानाह—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

प्रच्छर्दनं(३) प्राणस्य कोष्ठचस्य वायोर्योगशास्त्रानुसारान्नासिकापुटाभ्यां शनैर्विरेचनम्। विरेचितस्य तस्य बहिरेव स्थापनं विधारणं न तु सहसा प्रवेशनं, तदेताभ्यां वायोर्लघुकृतशरीरस्य मनः स्थितिपदं लभत इत्यर्थः। प्राणजये चित्तस्य जयस्तयोर्गत्योरविशेषादिति भावः। अत्र चोत्तरसूत्रस्थात् स्थितिनिबन्धिनीपदात्स्थितिग्रहणमाकृष्य स्थितिं सम्पादयेदिति भाष्यार्थेन सम्बन्धनीयम्। वा शब्दो वक्ष्यमाणोपायान्तरापेक्षो विकल्पार्थः। न तु मैत्र्यादिभावनापेक्षया तया सह समुच्चयस्योक्तत्वात् ॥३४॥

स्थित्युपायान्तरमाह—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

विषया गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा प्रवृत्तिर्गन्धादिसंवित् गन्धादिसाक्षात्कारः सा उत्पन्ना सती मनसः स्थितिनिन्धिनी भवति। स्थितिं निबध्नाति चित्तं स्थितौ निबध्नातीत्यर्थः। नासाग्रे चित्तं धारयतो धारणाध्यानसमाधीन् (४)कुर्वतस्तज्जयाद्दिव्यगन्धसंवित् (दिव्य-

---

(१) ईर्ष्येति। उपलक्षणमिदं रागकलुषस्यापि तथाहि स्नेहादनुभूयमानं सुखमनुशेते यः सुखजातं सर्वं मे भूयादिति राजसीधीवृत्तिविशेषः स राग उच्यते। स च रागो दृष्टादृष्टसुखसामग्र्यभावात्सर्वसुखासम्पत्त्या चित्तं विक्षिप्य कलुषीकरोति यदा चायं सुखिषु प्राणिषु मैत्रीं भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति तदा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति तत्र रागो निवर्त्तत इति भावः।

(२) राजसतामसवृत्तिरहितस्य चित्तस्य सात्त्विकवृत्तिप्रवाहितैकाग्रतारूपः स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिः तन्निमित्तमित्यर्थः।

(३) प्रच्छर्दनमिति। तच्च प्रकर्षेण निःशेषेण छर्दनं त्यागः, विधारणं विशेषेण यावता कालेन धर्त्तुं शक्यते तावता कालेन बहिः स्थापनम्। नासिकापुटाभ्यामितिविशेषणमविशेषोक्तेः। अत्र काश्चित्। प्रच्छर्दनं विरेचनं विधारणं कुम्भकः रेचनोत्तरं पूरणं विना विधारणासम्भवात्पूरकोप्यर्थादायातः तथा च पूरककुम्भकरेचकैर्मनसः स्थितिपदं सम्पादयेदित्यर्थमाह। न स शोभनः बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिरित्यादिवक्ष्यमाणसूत्रेण तस्यलाभादिति ज्ञेयम्। परेतु विधारणं पूरकः रेचकपूरकाभ्यासेन मनसः स्थितिपदं लभेत इत्यर्थमाहुः। स चाप्ययुक्तः तथाभ्यासकाले तदनन्तरं वा न मनसः स्थितिः सम्भवति प्राणवायोर्गुरुतरप्रचारात्। वायौ प्रचलिते मनोपि प्रचलति उभयोरेकगतिकत्वात्। ननु भस्त्राक्रियोत्तरं कुम्भके सति सा सम्भवतीति चेन्न। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यामुभाभ्यामेव मनसः स्थितौ सूत्रस्य तात्पर्यावधारणात्।

(४) न केवलं धारणजा स्थितिर्दिव्यगन्धादिसंविदे समाधिप्रज्ञायै च भवति अतो धारयत इत्यस्य धारणाध्यानसमाधीन् कुर्वत इत्यर्थः। नन्वेताः प्रवृत्तयो न धारणामात्रेणोद्भवितुमर्हन्ति एतासां संयमजफलत्वात् अत एवोक्तं भाष्ये "समाधिप्रज्ञायां द्वारीभवन्तीति"। समाधिप्रज्ञा चात्र ऋतंभराख्येति ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञेति सूत्रादित्यत आह धारणाध्यानसमाधीन् कुर्वत इति। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य वीतरागविषयं वा चित्तं स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा यथाभिमतध्यानाद्वेति सूत्रचतुष्टयकथितोपाया नेश्वरविषयायै

गन्धसाक्षात्कारः) उपजायते एवं जिह्वाग्रे चित्तं धारयतो रससंवित तालुनि रूपसंवित जिह्वामध्ये स्पर्श-संवित् जिह्वामूले शब्दसंवित । एताश्च संविदः प्रवृत्तयोऽल्पेनैव कालेनोत्पन्नाः सत्यो विश्वासमुत्पाद्ये-श्वरविषयायां वा विवेकख्यातिविषयायां स्थितौ चित्तं निबध्नन्ति संशयमपनयन्ति (१)समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति। तथाचोक्तं भाष्यकृता "संशयं विधमन्ति समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति" । एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्येति । तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् विषये दिव्ये धारणातो जायमाना संवित् चित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवतीत्याशयः ॥ ३० ॥

एवंविधमेवोपायान्तरमाह—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अत्र प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यस्यानुवृत्तिः। विशोका विगतशोका दुःखरहिता ज्योतिष्मती ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती प्रकाशरूपा उदरोरसोर्मध्ये यत्पुण्डरीक(२)मष्टदलं सुरक्तं मुकुलीकृतमधोमुखं रेचकप्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र कर्णिकामध्यस्थसुषुम्णानाड्यामस्मिताकार्य-रूपं चित्तसत्त्वं भावयतो बुद्धिसंवित (३) चित्तसाक्षात्कार उत्पद्यते। तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्ये-न्दुग्रहमणिप्रभा रूपनानाकारेण संपद्यते सा विशोका विषयवती कथ्यते । तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्ग(४)महोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं जायते तस्माज्जाता प्रवृत्तिरस्मितामात्रा ज्योति-

---

विवेकख्यातिविषयायै वा स्थित्यै कल्प्यन्ते किन्तु धारणादीनामुपयोगिनो भवन्ति अत एव नैते संशयम-पनयन्ति नापि समाधिप्रज्ञायां द्वारीभवन्तीत्यतस्तेभ्यो विशिष्ट उपायोऽयमिति ।

(१) संशयमपनयन्तीति। आगमादिभिरवगतेष्वर्थेषु कुतः संशय इत्यत आह भाष्ये यद्यपि हीत्यादि। तथाहि यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति एतेषां यथाभूतार्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरण(स्वेन्द्रिय)संवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु (कैवल्यादिषु) सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्यो-पदेशोपोद्बलनार्थ(शास्त्राद्यभिहितार्थविषयकसंशयापनोदार्थ)मेवावश्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशस्य प्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमप्यापवर्गात (कैवल्यपर्यन्तं)सुश्रद्धीयते (इदमित्थमेवेति विश्वस्यते) इति। अयं भावः। श्रद्धामूलो हि योग उपदिष्टार्थैकदेशे प्रत्यक्षीकृते च श्रद्धातिशयो जायते—तन्मूलाश्च ध्यानादयोऽस्याप्रत्यूहं भवन्तीति ।

(२) पुण्डरीकमिति। तच्च वितस्तिमात्रं पद्मच्छिद्रं च, तथाच स्मृतिः—

अतिरम्यं हि भूतानां पद्मच्छिद्रमधोमुखम् ।
वितस्तिमात्रतो देशे नाभेरूर्ध्वमवस्थितम् ॥
यथैवाष्टदलं पद्मं सुरक्तं मुकुलीकृतम् ।
एवं हृदयपद्मं तल्लम्बतं हृदयस्यके ॥
सोमाग्निरविनक्षत्रविद्युद्वत्तेजसा युतम् ।
भाति विश्वस्य कृत्स्नस्य ह्याश्रयो योगिनां सदा ॥ इति ।

किञ्च तन्मध्ये सूर्यमण्डलमकारो जागरितस्थानं तस्योपरि चन्द्रमण्डलमुकारः स्वप्नस्थानं तस्योपरि वह्निमण्डलं मकारः सुषुप्तिस्थानं तस्योपरि परं व्योमात्मकं ब्रह्मनादं तुरीयस्थानमर्धमात्रमुदाहरन्ति ब्रह्मवादिनः । तत्र कर्णिकायामूर्ध्वमुखी सूर्यादिमण्डलमध्यगा ब्रह्मनाडी ततोऽप्यूर्ध्वं प्रवृत्ता (मूर्धपर्यन्तं गता कन्दस्य मध्यभागे संप्रतिष्ठिता) सुषुम्ना नाम नाडी पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना सह मूर्ध्नि साग-तेत्यादिस्मृतेः। तया खलु बाह्यान्यपि सूर्यादीनि मण्डलानि प्रोतानि सा हि चित्तस्थानम् ।

(३) बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमनेकविषयगोचरत्वेन व्यापि च न तु महत्तत्त्वं व्यापकं तत्र बुद्धिसंविदिति ।

(४) शान्तमपगतरजस्तमस्तरङ्गमनन्तं व्यापि अस्मितामात्रं न पुनर्नानाप्रभारूपम् ।

मती मोच्यते एषा द्वयी योगिनश्चेतसः स्थितिनिबन्धनी भवति स्थितिं करोतीत्यर्थः ॥३६॥

उपायान्तरमाह—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

वीतरागाः कृष्णद्वैपायनप्रभृतयस्तेषां चित्तं तदेव विषयोऽवलम्बनं यस्य तत् योगिनाश्चित्तं स्थितिपदं लभत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

ज्ञानशब्दोऽत्र ज्ञेयपरः, स्वप्ननिद्रयोर्ज्ञेयमालम्बनं यस्य तत्तथा प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः तस्मिन् भगवतो मूर्त्तिमत्यन्तमनोहरां नानोपचारैराराधयन्नेव प्रबुद्धः प्रसन्नमनास्तदा तामेव स्वप्नज्ञानालम्बनीभूतामनुचिन्तयतस्तस्य तदेकाकारमनसश्चित्तं तत्रैव स्थितिपदं लभते । निद्रा चेह सात्विकी ग्रहीतव्या तस्याः प्रबुद्धस्य सुखमहमस्वाप्समिति प्रत्यवमर्शो भवति तस्यामेकाग्रं हि मनो भवति इति तत्र यत्सुखं तदालम्बनं चित्तं स्थितिपदं लभते इत्यर्थः । तावन्मात्रेण चोक्तमेतदेव ब्रह्मविदो ब्रह्मणो रूपमुदाहन्ति सुषुप्तावस्थेति ॥ ३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

किं बहुना अभिमतमतिक्रम्य यथाभिमतम् यदेवाभिमतं शिवरामकृष्णादिरूपं तदेव देवतारूपं बाह्यं वस्तु वा तस्य ध्यानात्तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि भाव्यमाने चेतः स्थितिपदं लभते स्थिरीभवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

एवमुपायान्प्रदर्श्य ज्ञापकरूपफलदर्शनायाह —

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं कुर्वतो योगिनः सूक्ष्मविषयकभावनाद्वारेण तस्य चित्तं परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभते । एवं स्थूले निविशमानस्य चित्तस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं भवति एवमस्य तामुभयकोटिमनुधावतो योऽप्रतीघातः स परो वशीकारः परमाण्वन्तः परममहत्त्वान्तश्च जायते न क्वचित्तत्र चेतसः प्रतीघात उपजायत इत्यर्थः । तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्म (स्थित्युपायानुष्ठानं) अपेक्षत इति भावः ॥ ४० ॥

तदेवं चित्तस्थितेरुपाया दर्शिताः लब्धस्थितिकस्य चित्तस्य ज्ञापको वशीकारोपि दर्शितः, संप्रति तस्य चित्तस्य किंविषयः किंस्वरूपश्च संप्रज्ञातो भवतीत्यत आह—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ॥ ४१ ॥

ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वित्यस्यार्थक्रमवशात् ग्राह्यग्रहणग्रहीतृष्वित्यर्थः । स्थूलसूक्ष्म(१)भूतात्मकग्राह्यग्रहणग्रहीतृक्रमेणैवोपरागसंभवात् । गृह्यन्ते इति ग्राह्याः अर्था विषयाः । गृह्यन्ते एभिरर्था इति ग्रहणानीन्द्रियाणि ग्रहीता अस्मिताऽऽस्पदं हि पुरुषः तेन अज्यते उपरज्यते इति तदञ्जनं बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् तस्य भावस्तदञ्जनता तदाकारता तद्रूपता तत्स्थेति लुप्तषष्ठीकं पदं क्षीणवृत्तेस्तत्स्थस्येति योजनीयम् । तथाच क्षीणवृत्तेरभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणरजस्तमःप्रमाणादिवृत्तिकस्य स्वभावस्वच्छस्य अत एव स्फटिकमणिकल्पस्य चित्तसत्त्वस्य ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु तत्स्थस्य तेषु ग्राह्यादिषु स्थितस्य धारितस्य ध्यानपरिपाकवशादपहतरजस्तमोमलस्य तदञ्जनता तदुपाश्रयोपरागात्स्वरूपाभिभवेन तदाकारता तद्रूपता भवति सा समापत्तिः संप्रज्ञातलक्षणो योग उच्यते । अत्र दृष्टान्तमाह अभिजातस्येव

---

(१) स्थूलभूतानि गवादीनि घटादीनि च, सूक्ष्मभूतानि परमाणुः पञ्चतन्मात्राणि च, स्थूलसूक्ष्मभूतात्मकग्राह्योक्त्या वितर्कविचारानुगतौ समाधी दर्शितौ, ग्रहणोक्त्या आनन्दानुगतः ग्रहीत्रुक्त्याऽस्मितानुगतः समाधिरुक्तः ।

मणेरिति। आभिजातस्य निर्मलस्य मणेः स्फटिकस्य यथा स्फटिकमणिर्जपाकुसुमाद्युपाधिवशात्तद्रूपोपरक्तः (तच्छायापन्नः) जपाकुसुमाद्युपाश्रयस्य लोहितादिरूपाकारेण लक्षितो निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्य(१)समापन्नं (ग्राह्यत्वमिव प्राप्तं) ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते। एवं ग्रहणग्रहीत्रोर्बोद्धव्यमिति दिक्॥ ४१॥

सामान्यतः समापत्तिरुक्ता सेयमवान्तरभेदाच्चतुर्विधा सवितर्का निर्वितर्का सविचारा निर्विचारेति। तत्र सवितर्काया लक्षणमाह—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥ ४२॥

तत्र तासु समापत्तिषु मध्ये शब्दार्थज्ञानविकल्पैः शब्दश्चार्थश्च ज्ञानं च एषां विकल्पाः तैः शब्दविकल्पेन अर्थविकल्पेन ज्ञानविकल्पेन च संकीर्णा मिश्रा समापत्तिः सवितर्का प्रत्येतव्येति। तद्यथा गौरित्युक्ते शब्दार्थज्ञानानि भिन्नान्यपि परस्पराध्यासेन विकल्परूपेण (अभिन्नरूपेण) भासन्ते। तत्र गौरिति शब्द इत्येको विकल्पः, अयं हि गौरित्युपात्तयोरर्थज्ञानयोः शब्दाभेदविषयः। तथा गौरित्यर्थ इत्येको विकल्पः गौरित्युपात्तयोः शब्दज्ञानयोरर्थाभेदविषयः। एवं गौरिति ज्ञानमित्येको विकल्पः, अयं तु गौरित्युपात्तयोः शब्दार्थयोर्ज्ञानाभेदविषयः इति विभक्तानामपि शब्दार्थज्ञानानामविभागेन ग्रहणं लोके प्रसिद्धम्। तथा गवाद्यर्थे समापन्नचित्तस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्त्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यत इत्यर्थः॥ ४२॥

यदा पुनः शब्दसङ्केत(२)स्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमेयज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैव भासते सा च निर्वितर्का समापत्तिस्तदाह—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥ ४३॥

स्मृतिपरिशुद्धौ शब्दसङ्केतस्य च श्रुतस्य चानुमेयस्य च ज्ञानमेव विकल्पः तस्माज्जाता स्मृतिः (तेषां स्मृतिः) तस्याः (सङ्केतस्मृतेः) परिशुद्धौ अपगमे सति या स्वरूपशून्या इव अत एवार्थमात्रनिर्भासा चित्तस्थितिः सा निर्वितर्का समापत्तिरित्यर्थः। अयं भावः। शब्दसङ्केतस्मरणपूर्वे खल्वागमानुमाने प्रवर्त्तेते सङ्केतश्चायं गौरिति शब्दार्थज्ञानानामितरेतराध्यासरूपः तत(सङ्केतात)श्चागमानुमानज्ञाने विकल्पौ भवतः इति तद्विकल्पपूर्वा समाधिप्रज्ञा सवितर्का। यदा पुनरेवार्थमात्रप्रवणेन (अर्थमात्रादरेन) तदभ्यासात्रान्तरीयकतामुपगता सङ्केतस्मृतिस्त्यक्ता तत्त्यागे च तन्मूलौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पौ त्यक्तौ तदा तच्छून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपमात्रतयैव न तु विकल्पितेनाकारेण परिच्छिद्यते सा निर्वितर्का समापत्तिर्निर्विकल्पसमाधिरिति॥ ४३॥

सविचारानिर्विचारे आह—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च समापत्त्या सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता। सूक्ष्मविषया सूक्ष्मः प्रत्येकपञ्चतन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा तथोक्ता। एतेन सवितर्काया निर्वितर्कायाश्च परमाण्वादि(३)स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति। देशकालनानाविशेषणविशिष्टेषु स्ववाचकश-

---

(१) ग्राह्यग्रहणात् स्थूलसूक्ष्मचेतनाचेतनेषु तथैव बोध्यम्।

(२) शब्दसङ्केतेति गवादिशब्दानामस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा शक्तिः सङ्केतः स च विकल्पितार्थेष्वेव लोके गृह्यते, अतः सोपि विकल्पः तस्य स्मृत्या शाब्दज्ञानमनुमितिश्च विकल्प एव जायते, तथा च श्रुतस्यार्थे वा श्रुत्यनुमेयार्थे वा श्रुत्यनुमितिरूपविकल्पमूला समापत्तिः सवितर्का भवति तत्स्मृतिव्यपगमे तत्कार्यस्य विकल्पज्ञानस्य त्यागात्समाधिप्रज्ञायां स्वरूपाकारमात्रतयैवार्थो भासत इत्यर्थः॥

(३) परमाण्वादीति। यद्यपि परमाणूनां परिमाणान्तरापेक्षया सूक्ष्मत्वमस्ति तथापि तन्मात्रापे-

द्ग्रहणाभ्यामभेदेन विकल्पितेषु पञ्चतन्मात्रेष्विन्द्रियादिषु च या समापत्तिः सा सविचारा या तेष्वेव सर्वविशेषणशून्येषु सूक्ष्मेष्वर्थमात्रेषु स्वरूपशून्येवार्थनिर्भासा समापत्तिः प्रज्ञा सा निर्विचारेत्युच्यते ॥
ननु सूक्ष्मविषययोरनयोः किंपर्यन्तः सूक्ष्मो विषय इत्याह—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सविचारानिर्विचारयोरिति शेषः । अलिङ्गपर्यवसानम् न क्वचित् (१)लिङ्गति लयं प्राप्नोति इत्यलिङ्गं प्रधानमव्यक्तः प्रकृतिरिति यावत् तत्पर्यवसानमन्तो यस्य तत् तत्पर्यन्तामित्यर्थः । गुणानां हि परिणामे चत्वारि पर्वाणि भवन्ति विशिष्टलिङ्गमविशिष्टलिङ्गं लिङ्गमात्रमलिङ्गं चेति । तत्र विशिष्टलिङ्गं भूतानीन्द्रियाणि च, अविशिष्टलिङ्गं पञ्चतन्मात्रान्तःकरणानि, लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं बुद्धिः, अलिङ्गं प्रधानमिति नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति । नन्वव्यक्तात्पुरुषः पर इति श्रुत्या पुरुष एव निरतिशयः सूक्ष्म(२) इत्याख्यायते तत्कथं प्रधाने सौक्ष्म्यकाष्ठाकथनमिति चेत्सत्यम् । यादृशं परिणामित्वेनोपादानतया महत्वापेक्षितं सौक्ष्म्यं प्रधानेऽस्ति नैव तादृशं प्रधानापेक्षितं सौक्ष्म्यं पुरुषेऽस्ति तस्यापरिणामित्वात् परिणामित्व (उपादानकारणत्व) समानाधिकरणसौक्ष्म्यस्य प्रधाने एव विश्रान्तिरित्याशयेन पतञ्जलिना सूत्रितमलिङ्गपर्यवसानमिति । अन्वयिकारणत्वा(उपादानकारणत्व)विवक्षायां तु पुरुषोऽपि तस्मात्सूक्ष्मोऽस्त्येव महदहङ्कारादेः संसारस्य निमित्तकारणतासत्त्वेऽपि न क्षतिः उपादानत्वलक्षणमलिङ्गस्यैव सौक्ष्म्यम् । तस्मात्सूक्ष्मविषया समापत्तिः प्रधानपर्यन्तेति भावः ॥ ४५ ॥
तासां संप्रज्ञातत्वमाह--

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

एवकारो भिन्नक्रमः(३) ताश्चतस्रः समापत्तयः उक्तलक्षणा बीजेनालम्बनेन सहिताः सबीज एव संप्रज्ञातः समाधिः । तत्र स्थूले ग्राह्येऽर्थे सवितर्का निर्वितर्का पञ्चतन्मात्रचित्तमनोहङ्कारबुद्ध्यात्मकसूक्ष्मग्राह्येष्वर्थेषु सविचारा निर्विचारा इति चतस्रः समापत्तयः । तथा ग्रहणग्रहीतृगोचरापि समापत्तिर्विकल्पाविकल्पभेदेन चतुर्विधा इत्यष्टौ समापत्तयः सालम्बनत्वात्सबीजाः ताः सबीज एव समाधिः संप्रज्ञात इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

क्षया स्थूलत्वमस्त्येवेति तदाशयः । किञ्च पार्थिवपरमाणुर्गन्धतन्मात्रादाप्यादिचतुस्तन्मात्राङ्गकाज्जायते आप्यस्तु गन्धतन्मात्ररहितात्रसतन्मात्रात्तैजसादित्रितन्मात्राङ्गकात् तैजसस्तु गन्धरसद्वयवर्जितात्रूपतन्मात्राद्वायव्यादिद्वयाङ्गकात् वायव्यस्तु पूर्वत्रयहीनात्स्पर्शतन्मात्राच्छब्दतन्मात्राङ्गकात् नाभसः परमाणुरेकस्मादेव शब्दतन्मात्राज्जायते इति प्रक्रिया अतस्तन्मात्रापेक्षया स्थूलत्वं परमाणोरिति स्पष्टम् ।

(१) न क्वचिदिति । पञ्चतन्मात्राणि स्वकारणे स्वस्मात्सूक्ष्मेऽहंकारे लीयन्ते स च स्वकारणे स्वस्मात्सूक्ष्मे महत्तत्त्वे विलीयते तच्च स्वकारणे स्वस्मात्सूक्ष्मे प्रधाने लीयते तस्य च स्वकारणाभावात्र कुत्रापि लय इति भावः ॥

(२) सूक्ष्म इति । पुरुषस्य सौक्ष्म्यमुक्तं शंखस्मृतौ—
यथा--

बालाग्रशतशो भागः कल्पितस्तु सहस्रधा ।
तस्यापि शतमोभागाज्जीवः सूक्ष्म उदाहृतः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
एष सर्वेषु भूतेषु तिष्ठत्यविकलः सदा ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ इति ॥

(३) ननु सूत्रे ता एवेत्यनेन पूर्वोक्तानां ग्राह्यविषयाणां चतसृणां समापत्तीनामेव परामर्शात्तासामेव सबीजत्वेन संप्रज्ञातत्वं स्यात् तथाच ग्रहणग्रहीतृसमापत्त्योः सबीजत्वानुक्त्या संप्रज्ञातत्वानुपपत्तिः स्यादत आह एवकारो भिन्नक्रम इति ॥

चतसृषु समापत्तिषु ग्राह्यविषयासु निर्विचारायाः शोभनत्वमाह—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

रजस्तमउपचयरूपावरणमलान्मुक्तस्य प्रकाशस्वभावस्य बुद्धिसत्त्वस्य स्वच्छस्थिति(वृत्ति)प्रवाहो वैशारद्यं यदा निर्विचारस्य समाधेरिदं वैशारद्यं जायते तदा योगिनोऽध्यात्मप्रसादः यथार्थवस्तुविषयो युगपत्सर्वार्थग्राही (१)प्रत्यक्षो ज्ञानालोकः न तु श्रुतानुमितरूपो जायत इत्यर्थः । तथा चोक्तं परमर्षिणा—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ इति ॥

प्रज्ञाप्रसादं ज्ञानालोकप्राकर्ष्यमारुह्य प्राप्य अशोच्यः न शोच्यो यस्य स तथा शोचतः दुःखत्रयपरीतान् जनान् जानातीत्यर्थः । कः कानिव शैलस्थः उच्चदेशास्थितः भूमिष्ठान् अधोदेशगतानिवेत्यर्थः॥४७॥

तस्मिन् प्रसादे सति प्रज्ञायाः संज्ञामाह—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तत्र तस्मिन् निर्विचारसमाधिवैशारद्यजनितेऽध्यात्मप्रसादे सति समाहितचित्तस्य योगिनो या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति । ऋतं सत्यमेव बिभर्त्ति न कदापि विपर्यासगन्धमपीत्यर्थः । उक्तं च

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ॥

आगमेन वेदश्रवणेन अनुमानेन मननेन ध्यानं चिन्ता तस्याभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानम् तस्मिन् रस आदरस्तेन । तदगेन निदिध्यासनमुक्तम् । उत्तरार्धं सुगमम् ॥ ४८ ॥

आगमानुमानजनितायाः प्रज्ञातोऽस्या वैलक्षण्यमाह—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात ॥ ४९ ॥

पञ्चमीद्विवचनान्तमिदं श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामिति । श्रुतमागमजनितविज्ञानं तत्सामान्यविषयम् । न ह्यागमेन विशेषार्थोऽभिधातुं शक्यते तस्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च यतो न हि विशेषेण सह वाच्यवाचकभावसम्बन्धविषयकेश्वरेच्छारूपसङ्केतः प्रतीयते न च वाक्यार्थोऽपीदृशो विशेषः सम्भवति । एवं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणाधीनजन्मानुमानेऽपि गतिरेषा तदपि सामान्यविषयमेव तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्ति । न चैतेषां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तूनां लोके प्रत्यक्षेण ग्रहणं सम्भवति सूक्ष्मभूतसूक्ष्म(तन्मात्रादि)व्यवहितविप्रकृष्टगतः पुरुषगतो वा विशेषः ऋतम्भराग्राह्य एव भवतीति श्रुतानुमानप्रज्ञाविषयतोऽन्यविषया सेति स्फुटम् । विशेषार्थत्वादिति । तस्या इति शेषः विशेषपदं तत्प्रत्यक्षपरम् विशेषस्य प्रत्यक्षमर्थः प्रयोजनं यस्याः सा-तथा तद्भावादित्यर्थः । अतस्तस्यामेव प्रयत्नः कार्यः इत्युपदिष्टं भवतीति ॥ ४९ ॥

ननु वातसमूहावर्त्तमध्यवर्त्तिप्रदीपपरमाणुरिवानादिना व्युत्थानसंस्कारेण निरूढनिबिडतया सा प्रज्ञा न कथं प्रतिबन्धनीयेति शङ्कामपनेतुं सूत्रयति—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तज्जः निर्विचारसमाध्युत्कर्षजन्य ऋतम्भरप्रज्ञाजनितः संस्कारो नवो नवो भवति स संस्कारोऽन्यसंस्काराणां व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी तदाशयं बाधते स्वकार्यकरणाक्षमाँस्तान् करोतीति यावत् । इदमत्रावधेयम् । व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवा वृत्तिरूपाः प्रत्यया न भवन्ति तत्प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते ततः समाधिजसंस्कार उत्पद्यते तत संस्कारातिशयात्समाधिप्रज्ञा भवति ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारास्तथा भवन्ति । चित्तस्य हि कार्यद्वयमस्ति शब्दाद्युपभोगो विवेकख्यातिश्चेति । तत्र क्लेशकर्माशयसहितं चित्तं शब्दाद्युपभोगे प्रवर्त्तते प्रज्ञाप्रभवसंस्कारोन्मूलितनिखिलक्लेशकर्माशयस्य तु चेतसोऽवसितप्रायाधिकारभावस्य विवेकख्यातिमात्रमवशिष्यते कार्यम् तस्मात्प्रज्ञासंस्काराश्चित्तस्य न भोगाधिकारहेतवो भवन्ति प्रत्युत तत्परिपन्थिन एवेति ॥ ५० ॥

---

(१) युगपत्सर्वार्थग्राही अक्रमेण परमाण्वादिव्यधानान्ततत्त्वसमूहालम्बन इत्यर्थः ।

क्षमाधिप्रज्ञायास्तत्संस्काराणां च निरोधायान्यदपि किञ्चिदपेक्षणीयमस्ति न वेत्यत आह—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

परवैराग्येण ज्ञानप्रसादमात्रलक्षणेन संस्कारोपजनद्वारा तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्य निरोधो न केवलं प्रज्ञाया इत्यपिशब्दार्थः द्वयोर्निरोध इति फलितार्थः । सर्वनिरोधादिति । सर्वस्योत्पद्यमानस्य प्रज्ञातज्जसंस्कारप्रवाहस्य निरोधात्कारणाभावेन (अवसिताधिकारत्वेन चित्तस्य कृत्याभावात्) कार्यानुत्पादनात्सोयं निर्बीजसमाधिः (१)स निर्बीजः समाधिः सम्प्रज्ञातलक्षणसमाधिप्रज्ञाविरोधिनः परवैराग्याज्जायमानो विरामप्रत्ययाभ्यासकारणकज्ञानप्रसादलक्षणपरवैराग्यद्वारेण न केवलं तत्समाधिप्रज्ञाविरोधी किन्तु प्रज्ञाकृतानामप्यसौ संस्काराणां परिपन्थी भवति यतो निरोधजसंस्कारः समाधिजान् संस्कारान् बाधत इति भावः । ननु वैराग्यजं विज्ञानं सत् विज्ञानं प्रज्ञामात्रं बाधतां संस्कारस्त्वविज्ञानरूपः कथं तं बाधते । किञ्च यदि प्रज्ञाकृतसंस्काराणामप्यसम्प्रज्ञातो बाधकस्तर्हि सकृदसम्प्रज्ञातादेव सर्वसंस्कारव्युत्थानं कदापि कस्यापि न स्यादिति चेन्न । न निरोधः (परवैराग्यं) साक्षादेव प्रज्ञासंस्कारान् बाधते, किन्तु निरोधपरम्पराजन्यो दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितपरवैराग्यजन्मा संस्कारः प्रज्ञासंस्कारानत्यन्तं विलापयति । ननु ज्ञानस्यैव संस्कारजनकत्वं दृष्टं निरोधस्तु न ज्ञानंसंस्कारशेषचित्तावस्थाविशेषमात्रमिति तस्य संस्कारजनकत्वे किं मानमिति चेन्न । चित्तस्य निरुद्धावस्थाया यः कालक्रमो मुहूर्त्तार्धयामाहोरात्रादिः क्रमेण कालवृद्धिस्तद्दर्शनेन निरोधावस्थचित्तजन्यः संस्कारो मुहूर्त्तार्धयामादिव्यापितयाऽनुमेयः संस्कारवृद्धिव्यतिरेकेण तन्नियामकासम्भवात् । निरोधजन्यैः संस्कारैः सम्प्रज्ञातसंस्काराणां बाधे निरोधसंस्काराः प्रत्युदिता अपि न चित्तस्य स्थितिहेतवः यतः समाप्ताधिकारं चित्तमधिकारा(२)द्विनिवर्तमानं तैः सह स्वकारणे प्रलीयते–अतस्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न तस्य स्थितिहेतवः । नापि निरोधभागितयाऽधिकारवच्चित्तम् । यतः पुरुषार्थजनकं हि चित्तं साधिकारं शब्दाद्युपभोगविवेकख्याती एव च पुरुषार्थौ । संस्कारशेषतायां न बुद्धेः प्रतिसम्वेदी पुरुषो भवतीति नासौ (निरोधः) पुरुषार्थः । विदेहप्रकृतिलयानां चित्तं तु न निरोधभागितया साधिकारमपि तु क्लेशवासनावासिततयेति बोध्यम् । एवं प्रविलीने चित्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठोऽतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते इति ॥ ५१ ॥

योगारम्भप्रतिज्ञाऽऽदौ ततो योगस्य लक्षणम् ।
सलक्षणा वृत्तिभेदा योगोपायास्ततः परम् ॥ १ ॥
योगप्रभेदका अन्ये विषया उपयोगिनः ।
प्रसङ्गान्मध्यतस्तेषां पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ॥ २ ॥

इति श्रीबलदेवमिश्रकृतायां पातञ्जलसूत्रव्याख्यायां योगप्रदीपिकायां समाधिवर्णननिर्देशो नाम प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

(१) निर्बीजसमाधिरिति । अत्र वेदान्तिनो लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणान् चतुरो विघ्नान् मन्यन्ते । भगवता श्रीपतञ्जलिना त्वन्तरायेषु नैते परिगणिताः । तस्यायमाशयः निर्बीजसमाधेः प्राग्भूतायामृतम्भरप्रज्ञायां सत्यां तज्जनितसंस्कारेण समस्तव्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धात्तत्प्रभववृत्त्यात्मकप्रत्ययानुद्भवेन तेषां चतुर्णामसम्भवात् तेषां व्युत्थानसंस्कारमूलकत्वात् । सवितर्कादिसमाधिष्वपि न ते विघ्नाः सम्भवन्ति यथा व्याध्यादयः तेषां चित्तविक्षेपकत्वायोगात् । चित्तवृत्तीनां निरोधस्य क्रमेण जायमानत्वेपि सति नहि चित्तवृत्तीनां सात्विकीनां तत्र विघ्नत्वम्, न हि स्वस्य निरोधे स्वोऽन्तरायो भवति कर्मकर्तृविरोधात् । लयकषायरसास्वादानां यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधफलभूतत्वेन निरोधप्रतिबन्धकत्वायोगात् विक्षेपस्य च स्वयं वृत्तिरूपत्वेन स्वतो विक्षेपकत्वाभावात् । ननु स्त्यानादीनां चित्तवृत्तिविशेषाणां कथं चित्तवृत्तिनिरोधप्रतिबन्धकत्वमिति चेदुच्यते तेषां चित्तवृत्तिनिरोधफलभूतत्वाभावेन चित्तविक्षेपकत्वेन च प्रतिबन्धयोग्यतासत्त्वादिति ॥

(२) अधिकारादिति । अधिकारो नाम देहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलं कर्म तस्मात्सकाशाद्विशेषेणापगतमधिकारशून्यमिति यावत् ॥

अथ साधनपादः ।

अथ पूर्वपादे समाहितचित्तस्य (अविक्षिप्तचित्तस्य) योगारूढस्योत्तमाधिकारिणः सोपायः सावान्तरप्रभेदः सफलो योगः एकाग्रचित्तस्य संप्रज्ञातो निरुद्धचित्तस्यासंप्रज्ञातोऽभिहितः । व्युत्थितचित्तस्य (मन्दाधिकारिणः) तु न कापि गतिरुक्ता अभ्यासवैराग्ये च योगोपायौ न हि विशुद्धसत्त्वमन्तरेण झटिति सम्भवतः यतोऽभ्यासवैराग्यानुष्ठानौपयिकक्रियायोगेन तपआदिना विशुद्धसत्त्वो हि तौ प्रत्यहं भावयति नान्यथा अतो व्युत्थितचित्तो योगमारुरुक्षुः (मन्दाधिकारी) कथं नु नाम योगयुक्तः स्यादित्यनुकम्पयता सूत्रकृता सोपि यैः साधनजातैः सत्त्वशुद्धिकारकैर्विक्षेपमपनीयाभ्यासवैराग्ये भावयन् संप्रज्ञातसमाधिस्थः स्यात् तत्साधनजातं क्रियायोगं प्रतिपादयितुं द्वितीयपाद आरभ्यते तत्रापि वक्ष्यमाणबह्वायाससाध्ययमाद्यष्टाङ्गाना मध्यादल्पायाससाध्यानि तपआदीनि त्रीणि पृथक्कृत्य प्रथमतः तं प्रति (योगमारुरुक्षुं मन्दाधिकारिणं प्रति) उपयुक्ततमं (१)क्रियायोगमुपदिशति श्रीभगवान् पतञ्जलिः—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्, अत एव विष्णुपुराणे 'योगयुग् प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयत' इत्युपक्रम्य तप स्वाध्यायादयो दर्शिताः । 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यत' इति श्रीमद्भगवताप्युक्तम् । तपःशब्देन चात्र हितमितमेध्याशित्वं न तु कामाशनत्वमुपवासपरककृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणं च उपवासाभ्यासे धातुवैषम्यापातसम्भवात्, अत एव तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमिति भाष्यकृतोक्तम् । वस्तुतस्तु तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं यावता न धातुवैषम्य(२)मापद्येतेति तद्भाष्यार्थो युक्तः । स्वाध्यायः प्रणवपुरुषसूक्तरुद्रमण्डलब्राह्मणादयो वैदिकाः पौराणिकाश्च ब्रह्मपारायणादयः तेषां जपो (मोक्षशास्त्राध्ययनं) वा । ईश्वरप्रणिधानमीश्वरे परमगुरौ

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाऽशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

इति सर्वक्रियाणामर्पणम् तत्फलसंन्यासः (३)फलानभिसन्धानेन कार्यकरणं वा । न त्वत्र भक्तिविशेषादीश्वराभिमुखीकरणरूपं पूर्वोक्तमिति ॥ १ ॥

तत्फलमाह—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

स हि क्रियायोगः समाधिभावनार्थः समाधिभावनं समाध्युत्पादनमर्थः फलं यस्य स तथा, तथा

---

(१) उपयुक्ततमम् अल्पायाससाध्यं चित्तशोधकं चात्युपादेयमित्यर्थः । व्युत्थितचित्तानामपि मध्ये क्षिप्तचित्तं मन्दाधिकारिणं प्रति तपःस्वाध्यायादिक्रियायोग उपयुक्ततमः विक्षिप्तचित्तं मध्याधिकारिणं प्रति यमाद्यष्टाङ्गान्युपयुक्ततमानीति वेदनीयम् ।

(२) धातुवैषम्यमिति । तज्जन्या दुःखादयः पञ्च योगविरोधिचित्तविक्षेपकारका आपद्येरन्निति भावः ।

(३) तत्फलसंन्यास इति । अत एव श्रीमद्भगवतोक्तं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणीति ॥

कौर्मे—

ब्रह्मणा दीयते देयं ब्रह्मणे सम्प्रदीयते ।
ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मार्पणमिदं परम् ॥

तथा—

नाहं कर्त्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिरिति ॥

क्लेशतनूकरणार्थः क्लेशानां वक्ष्यमाणानामविद्यादीनां तनूकरणं दुर्बलीकरणं चित्तं विक्षिप्तुमसमर्थीकरणमर्थः फलं यस्य तथा स हि आसेव्यमानः समाधिमुत्पादयति क्लेशान् तनूकरोति (१) चेति परमार्थः ॥

ते क्लेशाः के कियन्तो वेत्याह—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥

एते पञ्च विपर्ययाः कथ्यन्ते अविद्या तावाद्विपर्यय एव अस्मितादयोऽप्याविद्योपादेयास्तदविनाभावर्त्तिन इति विपर्ययाः । ततश्चाविद्यासमुच्छेदे तेषामपि समुच्छेदो युक्त इति भावः । ते हि स्यन्दमानाः (लब्धप्रातिस्विकवृत्तयः) सन्तो गुणाधिकारं (सत्त्वादिगुणानामाधिकारं) कार्यारम्भणसामर्थ्यं दृढं कुर्वन्ति बलवन्तं कुर्वन्तीति यावत् । तथा गुणानां वैषम्यरूपं परिणामं सर्जननिदानं निर्वर्त्तयन्ति अव्यक्तमहदहङ्कारपरंपरया हि कार्यकारणस्रोत उद्भावयन्ति । कर्मभिः क्लेशाः क्लेशैश्च कर्माणि, अथवा अविद्यातो रागो रागाच्चाविद्येत्येवमनादिरूपान्योन्यपरस्परानुग्रहाधीना भूत्वा ते कर्मणा विपाकं जात्यायुर्भोगलक्षणं पुरुषार्थं निष्पादयन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

हेयानां क्लेशानामविद्यामूलत्वं दर्शयति—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

उत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्यन्वयः । विवेकख्यातिविरहिणां विदेहानां प्रकृतिलयानां च चेतसि क्षीरे इव दधि अनागतावस्थयाऽवस्थितानां क्लेशानां यो बीजभावोपगमः स्वकार्यजननसामर्थ्यं तत्प्रसुप्तिस्तद्वन्तः प्रसुप्ताः । सुप्तानां तेषामालम्बने स्वविषये यः संमुखीभावः सन्निकृष्टता स प्रबोधो जाग्रदवस्था ।

यथा प्राप्तावधीनां विदेहप्रकृतिलयानां क्लेशाः प्रबुध्यन्ते न तथा प्रसंख्यानवतो (विवेकख्यातिमतो) दग्धक्लेशबीजस्य सन्निकृष्टेपि विषये ते प्रबुध्यन्ते दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति । तनुत्वं प्रतिपक्षभावनोपहतत्वम् क्लेशानां प्रतिपक्षः क्रियायोगस्तस्यानुष्ठानेन दुर्बलीकृताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । अथवा सम्यग्ज्ञानमविद्यायाः प्रतिपक्षः भेददर्शनमस्मितायाः । माध्यस्थ्यं (अहेयानुपादेयज्ञानराहित्यं) रागद्वेषयोः । अनुबन्धबुद्धिनिवृत्तिः (न मा भूवं किन्तु भूयासमिति नैसर्गिकमरणत्रासनिवृत्तिः) अभिनिवेशस्येति । क्लेशानामन्यतमेन समुदाचारताभिभवाद्वा अत्यन्त विषयसेवया वा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पूर्ववदतनुभावे नैव समुदाचरन्ति लब्धस्ववृत्तयो भवन्ति ये क्लेशास्ते विच्छिन्नाः । नहि रागकाले क्रोधो लब्धवृत्तिको भवति क्रोधकाले राग इति यथा एकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति हेतोरन्यासु विरक्त इति न किन्तु तत्रैकस्यां स्त्रियां रागो लब्धवृत्तिरुदारः अन्यासु स्त्रीषु भविष्यद्वृत्तिर्विच्छिन्न इति अन्यत्र विच्छिन्ना एव क्लेशा इति नायं नियमः किन्तर्हि केचिद्भविष्यद्वृत्तयः साम्प्रतं प्रसुप्ताः केचित्तनवः केचिच्च विच्छिन्नास्ते । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । विषये ये लब्धवृत्तयस्ते उदाराः । वस्तुतस्तु प्रसुप्तादिरूपेण चतुर्विधानां क्लेशानामेकत्वमेवेति सत्यं तथापि तत्तदवस्थावैशिष्ट्यमादाय चातुर्विध्येन विभागोऽभिहित इति तत्त्वम् । यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव विषयाचिन्तनादिकारणेन लब्धवृत्तिकः सन्नुदारो भवति क्लेश इति भावः ।

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् ।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम् ॥

---

(१) क्लेशान् तनूकरोतीति प्रतनूकृतानेव क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजभावकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यति अप्रतनूकृतास्ते न तथा भवितुमर्हन्तीति क्रियायोगस्य प्रतनूकरणमात्रे व्यापारो न तु तेषामप्रसवधर्मित्वसम्पादने प्रसंख्यानस्य तु तद्वन्ध्यत्वे व्यापारोऽस्ति । क्लेशानामतनुत्वे च विक्षेपान्तर्गता विवेकख्यातिरुदेतुमेव नोत्सहते का कथा तद्वन्ध्याभावकरणस्येति तेषां तनूकरणात्पुनस्तैरनभिभूता सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः । अत एव समाप्तगुणकार्यारम्भणा प्रविलयाय (मोक्षाय) कल्पिष्यत इति भावः ।

इति सङ्ग्रहः। अविद्याक्षेत्रमिति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदा एव अविद्यया यद्वस्तु समारोप्य (विषयीक्रियते) ते तदेव क्लेशा अनुशेरते अनुगता भवन्ति (तस्मिन्नेव लब्धवृत्तयो भवन्ति इति यावत् ॥ ४ ॥

तत्राविद्यास्वरूपमाह—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः तद्यथा ये केचित् भूतानि चन्द्रतारकाद्युलोकान् देवानमृतान् नित्यत्वेनाभिमन्यमानास्तान्यभीप्सवस्तान्येवोपासते सेयमनित्येषु नित्यख्यातिरविद्या। तथा अशुचौ काये परमबीभत्से शुचिख्यातिः बीभत्सत्वं च शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संवृद्ध्युपेतमित्यादिना मैत्रायणीयशाखायां स्पष्टम्। उक्तं च वेदव्यासेन—

स्थाना (१)द्बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डितास्त्वशुचिं विदुः॥ इति।

एवं दुःखेषु सुखख्यातिः यथा परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति तत्र सुखख्यातिरिति। तथा अनात्मन्यात्मख्यातिः यथा देहस्य, बाह्योपकरणेषु पुत्रदारपशुभृत्यशय्यासनादिषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वाऽन्तःकरणेऽनात्मनि आत्मख्यातिरात्मनिश्चयः साऽविद्या क्लेशसन्तानस्य सविपाकस्य कर्माशयस्य च मूलम्, सा हि अज्ञानवद्विद्याविरुद्धं विपर्ययज्ञानं न त्वभावसङ्कलितपदार्थः। (२) इति बोध्यम् ॥ ५ ॥

---

(१) स्थानादित्यादि। मूत्राद्युपहतं मातुरुदरं स्थानम् पित्रोर्लोहितरेतसी बीजम्। अशितपीताहाररसादिभाव उपष्टम्भः तेन हि शरीरं धार्यते। निस्यन्दः प्रस्वेदः। निधनं मरणं च श्रोत्रियशरीरमप्यपवित्रयति मृतशरीरस्पर्शे स्नानविधानात्। आधेयशौचत्वादिति स्वभावेनाशुचेरपि शरीरस्य शौचमाधेयम् सुगन्धितेव कामिनीनामङ्गरागादिति।

(२) नत्वभावसङ्कलितपदार्थ इति। सा हि वस्तुसती विज्ञेया यथा नामित्रो मित्राभावो मित्राभिन्नो वा, किन्तु मित्रविरुद्धः सपत्नः। एवमगोष्पदं देशविशेष एव। तथा अविद्या न विद्याभावो नापि विद्यैवाविद्या नापि तदभावविशिष्टा बुद्धिरिति प्रथमेऽर्थे पूर्वपदार्थस्य प्रधानत्वेनामक्षिकमितिवन्नपुंसकत्वापत्तिः। न चास्याभावस्य क्लेशादिकारणत्वं सम्भवति। द्वितीयेऽर्थे च सा क्लेशादिपरिपन्थिनी न हि तद्बीजं भवति। तृतीयेऽर्थे अविद्याशब्दाभिधेयस्योपघाती नञर्थो न युक्तः अतोऽविद्यास्वरूपानुपघाताय गुणे नञर्थे एवान्याय्यकल्पना (नञोऽन्यथाकरणं) युक्ता लोकेपि चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञ उत्तरपदाभिधेयोपमर्दस्य तल्लक्षिततद्विरुद्धतयाऽब्राह्मणाधर्मादिपदेषूपलब्धेः। तदुक्तम्—

नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ्प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ इति।

तथेहापि विद्याविरुद्धेऽर्थेऽविद्याशब्दस्य वृत्तिरित्यलम्। अत्र वेदान्तिनः अविद्याऽपरपर्यायोऽज्ञानशब्दः तदर्थोऽज्ञानं भावरूपं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि। ज्ञानविरोधित्वं च ज्ञानापनोद्यत्वम्। तदेवाज्ञानलक्षणम्। तच्च न सत् ज्ञानेन तस्य बाधितत्वात्, नाप्यसत् तस्य संसारकारणत्वोपगमात् असतः शशविषाणवत्कारणत्वानुपपत्तेः प्रतिभासानुपपत्तेश्च बाधप्रतीत्योश्चाज्ञाने प्रसिद्धत्वात् अत उक्तमनिर्वचनीयमिति। तथात्वे च सर्वथा ज्ञातुमशक्यत्वात्तदभावप्रसङ्ग इत्यत आह त्रिगुणात्मकमिति। एवमजस्याज्ञानस्य भावरूपत्वं न परमार्थसत्त्वाभिप्रायेण किन्तु अभाववैलक्षण्याभिप्रायेण, अजत्वं तु प्रागभावाप्रतियोगित्वम् न त्वनेन ध्वंसाप्रतियोगित्वं कथ्यते ज्ञानेन (आत्मसाक्षात्कारेण) तस्य निवृत्तेः स्त्रीपुंप्रकृतिभिन्नस्य नपुंसकस्येव भावाभावान्यत्तदस्ति प्रतीतिबाधयोरन्यथानुपपत्त्या तथाङ्गीकारात् सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन वा सावयवनिरवयवोभयात्मकत्वेन वा भिन्नाभिन्नोभयत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वेनानिर्वचनीयमज्ञानं सवितरि जन्मान्धपरिकल्पितान्धकारवद्यत्किंचिद्वस्त्विति वदन्ति।

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूपाया अविद्यायाः कार्यभूतां बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानरूपामस्मितां रागादिवारिष्ठामाह—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता(१) ॥ ६ ॥

दृक् च दर्शनं च ते एव शक्ती तयोरात्मानात्मनोरनात्मन्यात्मज्ञानलक्षणविद्यापादितायां एकात्मतेव (एकस्वरूपेव) न तु परमार्थत एकात्मता सा अस्मिता दृक्शक्तिः पुरुषः दर्शनशक्तिर्बुद्धिः। भोक्तृभोग्ययोग्यतालक्षणं सम्बन्धं दर्शितुं शक्तिग्रहणम्। भोक्तृशक्तिः पुरुषो भोग्यशक्तिर्बुद्धिस्तयोरत्यन्तविभक्तयोरपरिणामित्वादिधर्मकः पुरुषः परिणामित्वादिधर्मिका बुद्धिरित्यत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां प्रतीयमानोऽप्यभेदो न पारमार्थिको भोगः कल्प्यते स्वरूपविवेकख्यातौ तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। उक्तञ्च पञ्चशिखेन बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति। आकारः स्वरूपं सदा विशुद्धिः शीलमौदासिन्यम् विद्याचैतन्यम्। बुद्धिरविशुद्धा अनुदासीना जडा चेति तत्रात्मबुद्धिरविद्या मोहः पूर्वाविद्याजनितसंस्कारस्तमो वा अविद्यायास्तामसत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

अविद्यापादिताऽस्मिता रागादीनां निदानमित्यस्मिताऽनन्तरं रागादीन् लक्षयति—

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखमनुशेते (२)यः स सुखानुशयी (३)धीवृत्तिविशेषोऽभिलाषापरपर्यायो रागः सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा या तृष्णा लोभः स राग इत्यर्थः ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघः (४)मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अभिनिवेशमाह—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

तथेति तच्छब्देनापिशब्दसमुच्चितोऽविद्वान् परामृश्यते, तथा च यथाऽविदुषो नैसर्गिको मरणत्रासो भवति तथा विदुषोऽपि श्रुतानुमितविवेकिनोऽपि (५)यो रूढो (प्रसिद्धः) मरणत्रासः स्वरसवाही स्वभावेन वासनारूपेण वहनशीलो न पुनरागन्तुकः सोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः। अयमहितकर्मादिना जन्तून् क्लिश्नाति न ह्यननुभूतमरणधर्मकस्य जन्तुमात्रस्याऽभावी मा भूवं किन्तु जीव्यासमित्यात्मनि प्रार्थना तदात्माशीर्भवति। प्रत्युदितस्य (वर्तमानस्य) शरीरस्य म्रियमाणत्वात्पूर्वजन्मानु-

---

(१) अस्मितेति । अन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति सास्मितेति ।

(२) सुखानुस्मृतिपूर्वं सुखे तत्साधने चेदं मे भूयात् मातोपि विषयः तत्क्षयकारणे सत्यपि नेदं मे क्षीयतामित्याद्याकारा भूयः स्पृहां करोति तादृशाकारत्वमनुशयः तद्विशिष्टो रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो रागः ।

(३) अनुशयीत्यत्र ग्रहादित्वादणिनि प्रत्यये विषयिविशापिशब्दवान्निपातनाद्वृध्यभावो बोध्यः। माधवस्तु इनिप्रत्ययमाह ।

(४) प्रतिहन्यते इति प्रतिघः दुःखे तत्साधने चेदं मे माभूयादित्येवमाकारा रागविरोधिनी चित्तवृत्तिर्द्वेषः ।

(५) नं हि सम्प्रज्ञातजातविवेकिनो विदुषो मरणत्रासः 'न बिभेति कुतश्चन' इति श्रुतेः। प्रसंख्यानाग्निनाऽविद्याया दग्धत्वात्तन्मूलस्याभिनिवेशस्य तस्मिन्नसम्भवादित्यत आह श्रुतानुमितविवेकिनोपीति। श्रुतानुमानाभ्यां विज्ञातपूर्वापरकोटिकस्येत्यर्थः । पूर्वकोटिः संसारोऽपरकोटिः कैवल्यम् । अथवा श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञातो यो विवेकः बुद्धिसत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपस्तद्वत इत्यर्थः ।

भवः (१) प्रतीयते। कृमेरपि जातमात्रस्य दुःखबहुलस्य निकृष्टतमचैतन्यस्य वर्त्तमाने जन्मनि प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्पादितो मरणत्रासः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति जातमात्र एव हि बालको मारकवस्तुदर्शनाद्वेपमानः कम्पविशेषादनुमितमरणप्रत्ययासत्तिस्ततो बिभ्यदुपलभ्यते। दुःखाद्दुःखहेतोश्च भयं दृष्टम्। न चास्मिन् जन्मन्यनेन मरणमनुभूतमनुमितं वा श्रुतं वा प्रागेवास्य दुःखत्वं तद्धेतुत्वं वाऽवगम्यते कस्मात्तस्य तथाभूतस्य स्मृतिः परिशिष्यते। नचेयं संस्कारादृते न चायं संस्कारोऽनुभवं विना भवति न चास्मिन् जन्मन्यनुभव इति प्राग्भवीयः परिशिष्यते इत्यासीत्पूर्वजन्मसम्बन्ध इति ॥ ९ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

क्रियायोगेन तनूकृतास्तदनु प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजभावकल्पा अत एव सूक्ष्मा(२) ये पञ्च क्लेशास्ते प्रतिप्रसवहेयाः प्रसवात्सृष्टेर्विरुद्धः प्रतिप्रसवः प्रलयश्चित्तस्य स्वकारणे लयः असंप्रज्ञातसमाधिरिति यावत् तेन हेयास्त्याज्या इत्यर्थः ॥ १० ॥

अदग्धानामत एव बीजभावोपगतानां क्लेशानां किंकर्त्तव्यतेत्याह—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तेषा(३)मदग्धानां बीजभावोपगतानां पञ्चानां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः पूर्वं क्रियायोगेन तनूकृत्य ध्यानेन प्रसंख्यानाग्निना हेयाः दग्धबीजभावकल्पाः कर्त्तव्याः। यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते (क्षालनं विनैव विधूननादिना निरस्यते) पश्चात्सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथेहापीति बोध्यम् ॥ ११ ॥

स्यादेतत् जात्यायुर्भोगहेतवः क्लिश्नन्तः क्लेशाः कर्माशयश्च तथा न त्वविद्यादयः तत्कथमविद्यादयः क्लेशा इत्यत आह—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेशो मूलं यस्य उत्पादे कार्यकारणे च स तथोक्तः। एतदुक्तं भवति अविद्यादिमूलकः कर्माशयो जात्यायुर्भोगहेतुरित्यविद्यादयोऽपि तद्धेतवोऽतः क्लेशा इति। आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः कर्मणामाशयौ धर्माधर्मौ कामलोभमोहक्रोधप्रसवौ तत्र कामात्काम्यकर्मणि प्रवृत्तौ स्वर्गादिहेतुर्धर्मो भवति। एवं लोभात्परद्रव्यापहरणादधर्मः। एवं मोहादधर्मे हिंसादौ धर्मबुद्धेः प्रवर्त्तमानस्याधर्म एव न त्वस्ति मोहजो धर्मः। अस्ति च क्रोधजो धर्मः, तद्यथा जनकावमानजन्मनः क्रोधात्तज्जिगीषया सम्पादितेन कर्माशयेन पुण्येनान्तरिक्षलोकवासिनामुपरिस्थानं ध्रुवस्य। अधर्मः क्रोधजो ब्रह्मवधादिजन्वा प्रसिद्ध एवेति। तस्य द्वैविध्यमाह दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इति। यथा तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु महानुभावेषु तपस्विषु वा कृतः पुनः पुनरपकारो यः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते (इहैव जन्मनि फलोन्मुखी भवति) यथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः

---

(१) पूर्वजन्मानुभव इति। निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियवेदनाभिरसम्बन्धो जन्म तस्यानुभवः प्राप्तिरित्यर्थः।

(२) सूक्ष्मा महाप्रतिपक्षाः यावद्दग्धबीजभावकल्पा इति प्रतिप्रसवात्पूर्वभावित्वात्तसङ्ख्यानस्य स्वल्पत्वमित्यर्थः।

(३) तेषामिति। राहोः शिर इतिवत् षष्ठी पञ्चानां क्लेशानां वृत्त्यात्मकत्वात् स्थूलाः स्वल्पप्रतिपक्षाः प्रतिपक्ष उच्छेदे हेतुः, तथा चायं क्रमः यथा स्थूला मला विधूननेन सूक्ष्मस्तु प्रक्षालनेन सूक्ष्मतरस्तु क्षारादिसंयोगेन निरस्यते तथा उदारावस्थाः क्लेशाः क्रियायोगेन तनूकर्तव्याः तनूकृतास्तु प्रसङ्ख्यानेन दग्धबीजभावकल्पाः कार्याः तथाभूतास्ते तु प्रतिप्रसवेन हेया इति।

स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन (सर्पयोनित्वेन) परिणत इति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः । नारकिपुरुषाणां तु न दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः तेषां नरकयातना एतज्जन्मकृतकर्मजा उत जन्मान्तरकर्मजेत्यत्र विनिगमकाभावात् । क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥ १२ ॥

नन्वविद्यामूलत्वे कर्माशयस्य विद्योत्पादे सत्यविद्याविनाशान्मा नाम कर्माशयान्तरं चैषीत् प्राक्तनकर्माशयानामनादिभवपरम्परासंचितानामसङ्ख्यातानामनियतविपाकफलानां भोगेन क्षपयितुमशक्यत्वादशक्योच्छेदः संसारः स्यादित्यत आह—

सति मूले(१) तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

धर्माधर्मयोर्मूलेऽविद्यादौ क्लेशे सति तद्विपाकः तस्य कर्माशयस्य विपाकः फलं भवति स चायं त्रिविधः जात्ययुर्भोगरूपः । जातिर्मनुष्यत्वादिः आयुर्जीवनकालः भोगो ह्लादपरितापफला सुखदुःखात्मिका चित्तवृत्तिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु क्लेशमूलत्वं कर्मणः कर्ममूलत्वं च विपाकानामथ विपाकाः कस्य मूलं येनाऽमी त्यक्तव्या इत्यत आह—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः अपुण्यहेतुका दुःखफला इत्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वपुण्यहेतुका जात्यायुर्भोगाः परितापफला भवन्तु हेयाः प्रतिकूलवेदनीयत्वात् कस्मात्पुनः पुण्यहेतुकास्त्यज्यन्ते सुखफला अनुकूलवेदनीयत्वादत आह—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥१५॥

अनुविद्धं सुखमित्यध्याहृतं सर्वविशेषणम् । परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तान्येव दुःखानि तैरनुवि-

---

(१) सति मूल इति । सुखदुःखफलो हि कर्माशयस्तादर्थ्येन तन्नान्तरीयकतया जन्मायुषी अपि प्रसूते सुखदुःखे च रागद्वेषाऽविनाभाववर्त्तिनी तदभावे न भवतः यदियमात्मभूमिः क्लेशसलिलावसिक्ता कर्मफलप्रसवक्षेत्रमित्यस्ति क्लेशानां फलोपजननेऽपि कर्माशयसहकारितेति । क्लेशसमुच्छेदे सहकारिवकल्यात्सत्स्वप्यनन्तोऽप्यनियतविपाककालः प्रसंख्यानदग्धबीजभावो न फलाय कल्प्यते इत्यर्थं द्योतयति सति मूल इति । अत्रेदं बोध्यम् । अनेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्त्तयति जन्मारभ्य मरणपर्यन्तं यो धर्माधर्मसमूहो गुणप्रधानभावापन्नः शुभाशुभकर्मभिर्निष्पादितः स मरणकालआरब्धकर्मभोगसमाप्त्या लब्धावसरः सन् युगपदेकप्रयत्नेन स्वफलदानाय मरणं प्रसाध्य एकीभूतः एकमेव जन्म करोति नानेकमिति । अयमाशयः । मरणकाले हि यावन्त्यनारब्धफलानि सञ्चितानि तानि निखिलान्येवाभिव्यक्तानि भवन्ति प्राक् तु मरणकालादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धानां तेषामभिव्यक्तिः तच्च मरणमविशेषादखिलाभुक्तकर्माभिव्यञ्जकम् न हि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हतीति । न चैकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, अनादिकालसञ्चितस्य (एकैकजन्मसञ्चितस्य) असंख्येयस्यावशिष्टस्य क्रियमाणस्य (साम्प्रतिकस्य) च कर्मणः फलक्रमानियमादनाश्वासो (भाविपापादिनानुष्ठीयमानपुण्यनाशसंभवात्पुण्यानुष्ठानं प्रति अनाश्वासः) लोकस्य प्रसक्तः स चानिष्टः । न चाप्येकं कर्मानेकजन्मनः कारणम्, अनेकस्मिन् जन्मन्याक्षिप्तेष्वनेकेषु कर्मस्वेकैकक्रमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य कर्मणो विपाककालाभावः प्रसक्तः स्यात्स चाप्यनिष्टः कर्मवैफल्येन तदननुष्ठानप्रसङ्गात् । यदैकजन्मसमुच्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन् फलक्रमानियमादनाश्वासस्तदा कैव कथा बहुजन्मसमुच्छेद्ये कर्मण्येकस्मिन । तत्र अवसराभावाद्विपाककालाभाव एव साम्प्रतिकस्येति भावः । न चाप्यनेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवत्ययोगिन इति क्रमेण वाच्यम् । यदि हि कर्मसहस्रं युगपज्जन्मसहस्रं प्रसुवीत तत एव कर्मसहस्रक्षयादवशिष्टस्य विपाककालः फलक्रमनियमश्च स्याताम् न त्वस्ति जन्मनां यौगपद्यमिति भावः ।

दं सर्वं सुखं गुणवृत्तिविरोधाच्च विवेकिनो दुःखमेवेत्यन्वयः। विषयसुखस्य परिणामदुःखतया दुःखत्वम् यथा सर्वस्यायं चेतनाचेतनाधीनः (पुत्रकलत्रादिगृहक्षेत्रधनादिसाधनाधीनः) सुखानुभवो रागानुविद्धो दृश्यते तथा चास्ति रागजः कर्माशयः। एवं दुःखसाधनानि द्वेष्टि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यास्ति कर्माशयः। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न खल्विन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्त्तुं शक्यम् यतो भोगाभ्यासमिन्द्रियाणां कौशलानि चानुविवर्द्धन्ते रागाः। उक्तं चोपनिषदि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ इति।

स(१) खल्वयं वृश्चिकभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयवासनासंवलितो महति दुःखपङ्के निमग्नः। उक्तं च श्रीभगवता विषयेन्द्रियसंयोगादित्यादीत्येतत्परिणामदुःखम्। एवं द्वेषानुविद्धश्चेतनाधीनस्तापानुभवस्तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन मनसा वाचा चेष्टते ततः परजनमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मौ सम्पादयति स सन्तापकालिकः कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवति इत्येतत्तापदुःखमुच्यते। सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयः। दुःखानुभवाद्दुःखसंस्काराशयः एवं कर्मभ्यः सुखे दुःखे वा विपाकेऽनुभूयमाने पुनः कर्माशयप्रचय इत्येवमिदमनादि-(२)दुःखस्रोतोविप्रवहणं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयतीति संस्कारदुःखम्। गुणवृत्तिविरोधाच्चेति। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिरूपेण परिणता गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि परस्परानुग्रहतन्त्राः शान्तं सुखात्मकं घोरं दुःखात्मकं मूढं विषादात्मकमेव प्रत्ययं सुखोपभोगरूपमपि चलं च गुणवृत्तिमन्तं त्रिगुणमेवारम्भते इति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। नन्वेकः प्रत्ययः कथं परस्परविरुद्धशान्तघोरमूढत्वान्येकदा प्रतिपद्यते इति चेत्सत्यम्। यतः स रूपातिशयैर्वृत्त्यतिशयैश्च बहुधा सम्पद्यन्ते अतः परस्परेण विरुद्ध्यन्ते धर्माद्यैश्वर्यान्ता अष्टौ भावा रूपाणि सुखाद्या वृत्तयः इति धर्मेण विपच्यमानेन सहोत्कर्षत्वेन (सहोत्कृष्टत्वेन) विपाकाभिमुखोऽधर्मो विरुद्ध्यते एवं ज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सुखादिभिश्च तादृशान्यज्ञानावैराग्यानैश्वर्यदुःखानि विरुद्ध्यन्ते इति हेतोश्च तादृशं सुखं सर्वं दुःखमेव विवेकिनो नत्वविवेकिन इत्यर्थः॥ १५॥

ननु (३)महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या तस्याश्चाभावहेतुः सम्यग्दर्शनं यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं तथेदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम् (चतुःसंक्षिप्तावयवरचनम्) तद्यथा संसारः तस्य हेतुः। मोक्षः। तस्योपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयस्य हेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् हानोपायः सम्यग्दर्शनम् (आत्मनः स्वरूपावस्थानम्) मोक्षः। तत्रातीतदुःखस्य न हेयता सम्भवति भोगेन नाशितत्वात् वर्त्तमानमपि स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्त्वेन हेयतामापद्यत इत्यतो हेयमभिदधाति—

हेयं दुःखमनागतम्॥ १६॥

अनागतमप्राप्तं दुःखं हातुं योग्यमित्यर्थः। यथा नात्मानं क्लिश्नाति दुःखं तथोपायेन गतितव्यमिति भावः॥ १६॥

---

(१) स इति। अनादिभवपरम्परासञ्चितानामसंख्यातानामनियतविपाकानां भोगेन क्षयं चिकीर्षुरित्यर्थः।

(२) अनादीति। सुखानुभवो हि संस्कारमाधत्ते स च सुखस्मरणं तच्च रागम् स च मनःकायवचनचेष्टां सा च पुण्यापुण्ये ततो विपाकानुभवः ततो वासना ततः कर्मप्रवृत्तिरित्येवमनादित्ति बोध्यम्।

(३) नन्विति। दुःखं हेयं प्रज्ञावतां न हि तन्निदानहानमन्तरेण तद्धेयं भवितुमर्हति न चापरिज्ञातं निदानं शक्यं हातुमिति मूलनिदानमस्य दर्शयति महतो दुःखसमुदायस्येत्यादि।

हेयमुक्त्वा तस्य हेतुं दर्शयति—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः चिच्छायापत्तिरेव बुद्धेर्बुद्धिप्रतिसंवेदित्वमुदासीनस्यापि पुरुषस्य। दृश्या बुद्धिरूपा प्रकृतिः तयोः संयोगः सम्बन्धो भोग्यभोक्तृत्वेन सन्निधानं हेयस्य दुःखस्य हेतुः कारणम् । नन्वेतावतापि बुद्धिरेव पुरुषेण दृश्यते न दृश्येरन् शब्दादयोऽत्यन्तव्यवहिता इति कथं शब्दादयो दृश्या इति चेत्सत्यम् । इन्द्रियप्रणालिकया शब्दाद्याकारेण परिणतायां बुद्धौ दृश्यायां भवन्ति शब्दादयोपि धर्मा दृश्या इति । चित्या संपृक्तमपि बुद्धिसत्त्वमत्यन्तस्वच्छया चितिबिम्बोद्ग्राहितया च समापन्नचैतन्यमिव शब्दाद्यनुभवति अत एव च शब्दाद्याकारपरिणतबुद्धिसत्त्वोपनीतान् सुखादीन् भुञ्जानो द्रष्टा स्वामी भवति तादृशं चास्य बुद्धिसत्त्वं स्वंभवति । यतः पुरुषस्यानुभवात्मको भोगः क्रिया तद्विषयता भुज्यमानतामापन्नं बुद्धिसत्त्वं स्वं भवति । ननु स्वयंप्रकाशं बुद्धिसत्त्वं कथमनुभवविषय इति चेदुच्यते यदि हि वस्तुतश्चैतन्यरूपं बुद्धिसत्त्वं स्यात्तर्हि स्वयंप्रकाशं भवेत्, किन्तु तच्चैतन्यादन्यज्जडरूपं तेन रूपेण प्रतिलब्धात्मकं तस्मादनुभवविषयः । ननु यस्य हि यत्र किञ्चिदायतते(अपेक्ष्यते)तत्तदधीनं न हि बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषमुदासीनं प्रति किञ्चिदायतत इति कथं तत्तन्त्रम् स्वतन्त्रमपि तत्पुरुषार्थत्वात्पुरुषाधीनमिति ज्ञेयम् । दृक्दर्शनशक्त्योः सम्बन्धो न स्वाभाविकः तथात्वे सम्बन्धिनोर्नित्ययोस्तस्याशक्योच्छेदतया(नित्यत्वात्) संसारस्य नित्यत्वापत्तेः, किन्तु नैमित्तिक एव सः अनादिनित्यप्रभवतयाऽनादिमान् क्लेशकर्मतद्वासनासन्तानश्चायमनादिः प्रलयावस्थायामन्तःकरणेन सह प्रकृतिलयमुपगतोपि सर्गादौ पुनस्तादृगेव भवति यथा वर्षाऽपाये तृणादिर्मृद्भावमुपगतोपि पुनर्वर्षासु पूर्वरूप एव तस्य संयोगस्योपादानतयाऽविद्याकारणं स्थितिहेतुतया पुरुषार्थः कारणम् पौरुषेयभोगापवर्गवशेन तस्य स्थितेरित्यर्थः ॥ १७ ॥

दृश्यस्वरूपमाह—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशीलं सत्त्वं क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तमः एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः । सत्त्वस्य हि भागः प्रकाशः राजसेन भागेन दुःखेन वा तामसेन भागेन दैन्येन वा अनुरज्यत एवं राजसादिष्वपि द्रष्टव्यमिति । पुरुषेण सह संयोगवियोगधर्माणो यथाम्नायते—

अजामेकां (१)लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

---

(१) **अजामेकामिति ।** एकोऽजो बुद्धिसत्त्वादात्मनो विवेकमबुध्यमानः पुरुषः लोहितशुक्लकृष्णा त्रिगुणात्मिकां सरूपाः सुखदुःखमोहात्मिकाः बह्वीः प्रजाः सृजमानामजामेकां प्रकृतिं जुषमाणः सेवमानः बुद्धिवृत्त्यैवाविद्यया बुद्धिस्थानि सुखादीन्यात्मनि अभिमन्यमानोनुशेते सुखी दुःखी मूढोहमित्यनुशयेन संसरति । एतेन पुरुषेण सह संयोगधर्माणो गुणा इत्युक्तं भवति । अधुना विभागमाह जहात्येनामिति । अन्यः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमान् एनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां जहाति अनात्मतया त्यजतीति श्रुतेरर्थः । सत्त्वेन शान्तप्रत्यये जनयितव्ये रजस्तमसोरपि सत्त्वासङ्गेन तत्र हेतुभावादस्ति सामर्थ्यमिति । यद्यपि च रजस्तमसोरङ्गित्वं तदापि शान्त एव प्रत्यय उदीयेत न घोरो नापि मूढो वेति । प्रधीयते विधीयते विश्वं कार्यमेभिरिति प्रधानशब्दार्थः । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तः भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ध्यायतीव लेलायतीवे'त्यादि श्रुतिभ्य औपाधिका एव पुरुषे भोगादयो धर्मा न पारमार्थिका इति । यत्तु पुरुषस्यापि स्वातन्त्र्येण भोगोस्त्येव बुद्धेरिवेति भाष्येण तु परिणामरूपः पुरुषस्य भोगो निराक्रियते 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'इति भगवदुक्तेरित्यादि जल्पितं, तदविवेकमूलकमेव भगवद्वाक्यस्यापि मुख्यभोगे तात्पर्याभावात् तथाहि कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते इत्यनेन प्रकृतेः संसारकारणत्वमभिधाय सा किमर्थं करोतीति शंकायां पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते इत्यनेन पुरुषस्य भोक्तृत्वेन तद्भोगार्थमित्युक्त्वा तत्किं पुरुषस्य भोक्तृत्वं स्वाभाविकमिति जिज्ञासायां

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ इति ।

दिव्यशरीरे जनयितव्ये सत्त्वं गुणः प्रधानोऽङ्गे रजस्तमसी । एवं मनुष्यशरीरे जनयितव्ये रजः प्रधानमङ्गे सत्त्वतमसी । एवं तिर्यक्शरीरे जनयितव्ये तमःप्रधानमङ्गे सत्त्वरजसी । तदेतत्प्रधानं दृश्यमुच्यते । तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन (पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मपृथिव्यादीनि महाभूतानि स्थूलपृथिव्यादीनि) परिणमते । तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन (महदहङ्कारौ सूक्ष्मेन्द्रिये एकादश च स्थूलेन्द्रियाणि) परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनमपि तु पुरुषस्य तद् दृश्यं भोगापवर्गार्थमुरीकृत्य प्रवर्त्तते । तत्र सुखदुःखे त्रिगुणाया बुद्धेः स्वरूपे तस्यास्तथात्वेन परिणामात् तथापि गुणगततयावधारणेन तद्भोगः । भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्गः अपवृज्यतेऽनेन प्रधानेनेत्यपवर्ग इत्यर्थात् । यद्यपि भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ तथापि यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनि व्यपदिश्येते तथेहापीति बोध्यम् । एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव प्रवर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्ता बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजननेन पुरुषार्थसमाप्तिर्मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्त्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः स हि तत्फलस्य भोक्तेति दिक् ॥ १८ ॥

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेषादीनि चत्वारि गुणानां पर्वाणि अवस्थाविशेषा भवन्ति इत्युपदिष्टं भवति । तत्र शब्दस्पर्श(१)रूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां बुद्धिपरिणामानां परिणामाः पञ्च महाभूतानि अस्मितालक्षणस्याविशेषस्य सत्त्वप्रधानस्य श्रवणस्पर्शदर्शनादिधर्मविशेषशून्यस्याभिमानमात्रधर्मस्याहंकारस्य (२) ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च तथा रजःप्रधानस्य तस्य कर्मेन्द्रियाणि पञ्च तदुभयप्रधानस्य तस्य तदुभयात्मकं (३)मन इति षोडशकः परिणामो विशेष उच्यते । शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि बुद्धिकार्याणि अविशेषादहंकारवदित्यनुमानासिद्ध(४)मविशेषत्वं तेषाम् । एतेनास्मितालक्षणाहङ्कारोऽविशेष एवेति सिद्धम् । अत एव भाष्ये षडविशेषा इत्युक्तम् । शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि एकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्षणानि । तत्र शब्दः शब्दैकलक्षणः स्पर्शः स्पर्शशब्दद्विलक्षणः रूपं रूपस्पर्शशब्दत्रिलक्षणम् रसः रसरूपस्पर्शशब्दचतुर्लक्षणः

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंयोगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

इत्यनेन प्रकृतितादात्म्यापन्नस्य गुणसङ्गेनौपाधिकमेव भोक्तृत्वं न पारमार्थिकमित्युक्त्वा उपद्रष्टानुमन्ता चेत्यादिवाक्येन स्वाभाविकं साक्षित्वमेव पुरुषस्येति सिद्धान्तितं भगवतेति ॥ १८ ॥

(१) अविशेषाणां शान्तघोरमूढलक्षणरहितानां ये विशेषा विकारा एव न तु तत्त्वान्तरप्रकृतयस्तानाह शब्दस्पर्शेत्यादि । अत्रेदं तत्त्वम् । गुणानां परिणामस्याङ्गाङ्गित्वभावस्यैकत्वाद्वस्तुनो महदादेरेकत्वं युज्यते तत्र सत्त्वस्याङ्गित्वे गुणत्रयादेको महान् तस्माद्रजःप्रधानादहङ्कारः तमःप्रधानात्पञ्च तन्मात्राणि प्रत्येकमेकत्ववन्ति उभयात्मकं मनः । एवं शब्दतन्मात्रस्याङ्गित्वे सत्याकाशः पञ्चतन्मात्राणामेकः परिणामः तथा स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणां क्रमेणाङ्गित्वे वाय्वग्न्यम्बुअवनयः प्रत्येकं जायन्ते इति ४ पादे १४ सूत्रे विशेषतो वक्ष्यते ।

(२) यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारस्तस्येत्यर्थः ।

(३) उभयात्मक इति । अन्यत्रमनाऽभूवं नाश्रौषमित्यादिश्रुतेश्चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेरिति तदाशयः ।

(४) अनुमानासिद्धमिति । अथवा पञ्चतन्मात्राणि अविशेषाः बुद्धिकार्यत्वादस्मितावदित्यनुमानम् ।

गन्धः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दपञ्चलक्षणः । अमी षडविशेषाः सत्तामात्रस्या(१)त्मनो महतः परिणामाः ॥ सोऽयं बुद्ध्यात्मकः प्रधानपरिणामो लिङ्गमात्रमित्युच्यते । न क्वचिल्लयं गच्छतीत्यालिङ्गमव्यक्तं प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था गुणपरिणामः । यद्यपि गुणा एव प्रधानशब्दवाच्यास्तथापि साम्यावस्थायाः प्रधानशब्दवाच्याया गुणेभ्योऽतिरिक्तत्वात्प्रधानस्य गुणपरिणामत्वम् नैतावता प्रधानस्य महत्तत्त्वादिवत्प्रकृतिविकृत्यात्मकत्वम् यतो न साऽवस्था पुरुषार्थक्रियाक्षमा । नापि खपुष्पवत्तुच्छस्वभावेति बोध्यम् । एते षडविशेषाः सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय सत्कार्यसिद्धेर्विवृद्धिकाष्ठां (२)प्राप्नुवन्ति । प्रलीयमाना लीनविशेषाभिधा अविशेषास्तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महति निलीय महता सहैव तेऽव्यक्तं प्रकृतिं प्रतियन्ति प्रकृतौ लीना भवन्तीत्यर्थः । ननु कथमहङ्कार एव न प्रथमं कार्यमिति चेन्न । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्तस्मादव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्महत् महतो वै अहङ्कारस्तस्मादेवाहंकारात्पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतानी'त्यादिगोपालतापनीयश्रुत्युक्तक्रमाऽनुल्लङ्घनादिति गृहाण ॥ १९ ॥

प्रथमं हेयत्वेनावस्थासहितं दृश्यं व्याख्याय द्रष्टुः स्वरूपमाह—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा साक्षी पुरुषः दृशिमात्रः दृक्शक्तिः मात्रग्रहणं धर्मैरपरामृष्टत्वबोधनाय ये के चन धर्मास्तत्र व्यवह्रियन्ते ते प्रतिभासा एवेति भावः । अत एवोक्तं शुद्धोऽपीति । स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवदी तत्प्रतिबिम्बितः पश्यति बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव पुंसो बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं, तथाच दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयोऽपि दृश्या भवन्ति न हि दृशिनाऽसंस्पृष्टं दृश्यं भवतीति भावः । स न बुद्धेः सरूपो नात्यन्तं विरूपो वा तस्यापरिणामित्वान्न बुद्धिसरूपत्वम् । (४)यतः

---

(१) सत्तामात्रस्येति । पुरुषार्थक्रियाक्षमं सत् तस्य भावः सत्ता तन्मात्रं महतत्त्वं बुद्धिः यावती काचित्पुरुषार्थक्रिया शब्दादिभोगलक्षणा सत्त्वपुरुषख्यातिलक्षणा वाऽस्ति सा सर्वा महति बुद्धौ समाप्यत इत्यर्थः । आत्मन इति स्वरूपदर्शनेन तुच्छत्वं निषिद्धम् । प्रकृतेरयमाद्यः परिणाम इति भावः ।

(२) विवृद्धिकाष्ठामिति । ये पुनरविशेषाणां विशेषपरिणामास्तेषां विवृद्धिकाष्ठा परिणामकाष्ठेति । लिङ्गमात्राद्यवस्थात्रयं पुरुषार्थकृतत्वादनित्यम् अलिङ्गावस्था तु पुरुषार्थेनाकृतत्वान्नित्या यदि ह्यलिङ्गावस्था शब्दाद्युपभोगं कृत्वा पुरुषान्यताख्यातिं वा पुरुषार्थं पुरुषाणां जनयेत्तदा साऽनित्या स्यात् निर्वर्त्तेत च न साम्यावस्था स्यादित्याशयः । गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो नास्तमयन्ते नापजायन्ते अतीतानागतवर्त्तमानावस्थावतीभिर्व्यक्तिभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजनापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते यथा गोमरणे देवदत्तो दरिद्राति गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं न स्वरूपहानात् यत्रात्यन्तभिन्नानां गवामुपचयापचयौ देवदत्तोपचयापचयहेतू तत्र कैव कथा गुणेभ्यो भिन्नाभिन्नानां व्यक्तीनामुपजनापाययोरित्यर्थः । सर्गक्रमस्तु अलिङ्गस्य लिङ्गमात्रं प्रथमं कार्यं तत्सृष्टेः प्राक् प्रधाने संसृज्यमानागतावस्थयाऽविभक्तं सदेव सृष्टिकाले विभक्तं सद्वर्त्तमानावस्थां प्राप्नोति तत्र हेतुमाह क्रमानतिवृत्तेरिति । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीदित्यादिश्रुतेस्तथैव क्रमलाभाभावात् तस्मादित्यनन्तरं परमित्यध्याहार्यमुक्तयुक्तेः । उत्पादक्रमे प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार इत्यादि कापिलागम आस्थेयः । तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संलीनानि विभक्तानि भवन्ति । तथाचोक्तं न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा इत्याशयेनाह । ननु कथमित्यादि ।

(४) न बुद्धिस्वरूपत्वमिति । इदमाकूतम् । बुद्धिश्च ज्ञाताज्ञातविषया यतः परिणामिनी यदा खल्वियं शब्दाकारा भवति तदास्या ज्ञाताः शब्दादयो भवन्ति तदनाकारत्वे त्वज्ञाताः तथाच बुद्धिः परिणामिनी ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् श्रोत्रादिवदित्यनुमानमत्र मानम् । तद्वैधर्म्यं पुरुषस्य तद्विपरीतस्वभावात्, तथा च स तु सदा ज्ञातविषयोऽपरिणामी च तत्र पुरुषोऽपरिणामी सदा (सम्प्रज्ञातव्युत्थानावस्थयोः)

शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः प्रत्ययान् बौद्धान् विषयोपरक्तविज्ञानानि अनुपश्यः बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीत्यर्थः । बुद्धिवृत्तिसमानाकार इति भावः । अतो नात्यन्तं विरूपः यथाचैतत्तथोक्तं वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति सूत्रे—यथा निर्मले जले असंक्रान्तोपि चन्द्रः संक्रान्तप्रतिबिम्बतया संक्रान्त इव भासत एवमत्राप्यसंक्रान्तापि संक्रान्तप्रतिबिम्बा चितिशक्तिः संक्रान्तेव तेन बुद्ध्यात्मत्वमापन्ना बुद्धिवृत्तिमनुपश्यतीति ॥ २० ॥

द्रष्टृदृश्ययोः स्वरूपमुक्त्वा स्वस्वामिलक्षण सम्बन्धाङ्गं दृश्यस्य द्रष्टृर्थत्वमाह—

तदर्थ एव दृश्यात्मा ॥ २१ ॥

यतो दृशिरूपस्य पुरुषस्य भोक्तुः कर्मरूपता भोग्यरूपतामापन्नं दृश्यं तस्यात्मा स्वरूपं तदर्थ एव द्रष्टुर्भोगार्थ एव । एतदुक्तं भवति । सुखदुःखात्मकं दृश्यं भोग्यम्-सुखदुःखे चानुकूलयितृप्रतिकूलयितृणी तत्त्वेन (अनुकूलयितृप्रतिकूलयितृत्वेन) अनुकूलनीयप्रतिकूलनीयार्थे एव नामार्थे व्यवतिष्ठते । विषया अपि शब्दादयस्तादात्म्यादेव (सुखदुःखमोहात्मकत्वादेव) चानुकुलयितारश्च । न चैषामात्मैवानुकूलनीयः प्रतिकूलनीयश्च, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, अतः पारिशेष्याच्चितिशक्तिरेव तथा (अनुकूलनीया प्रतिकूलनीया च) दृश्यस्य स्वरूपं तु जडमात्मरूपेण चैतन्येन प्रतिलब्धात्मकम् (अनुभूतस्वरूपम्) भोगापवर्गार्थतायां (१)कृतायां पुरुषेण न दृश्यते सा (२)न तु विनश्यति॥२१॥

ननु अत्यन्तानुपलभ्यं कथं न विनश्यतीत्याशङ्क्य समादधाति—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतोऽर्थो यस्य पुरुषस्य स तथा तं प्रति नष्टमदृश्यमप्यनष्टं दृश्यं तत् । कुतः ? सर्वार्थान् पुरुषान् कुशलान् अकुशलान् प्रति साधारणत्वात् । तदिह श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणासिद्धमव्यक्तमनवयवमेकमनाश्रयं व्यापि नित्यं विश्वकार्यशक्तिमदिति । न च प्रधानवदेक एव पुरुषः तस्य नानात्वस्य जन्ममरणसुखदुःखोपभोगमुक्तिव्यवस्थया सिद्धेः 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित' इति श्रुतिस्मृतीनां च प्रमाणान्तरविरोधात्कथंचिद्देशकालविभागाभावेन भक्त्याऽप्युपपत्तेः । प्रकृत्येकत्वपुरुषनानात्वयोश्च

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

इति श्रुत्यैव साक्षात्प्रतिपादनात् । अस्या एव श्रुतेश्चानेन सूत्रेणार्थोऽनूदितः । यदि च सर्वशरीरेष्वेक एवात्माऽभ्युपेयेत तदा एकस्मिन् जायमाने म्रियमाणे वा सुखिनि दुःखिनि वा बद्धे मुक्ते वा नेतरे ज-

---

ज्ञातविषयत्वात् यः परिणामी नासौ सदा ज्ञातविषयो भवति यथा श्रोत्रादिरिति व्यतिरेकी हेतुरित्यनुमानम् । ननु सदा ज्ञातविषयश्चेत्पुरुषो न तर्हि केवली स्यात् इति चेन्न । बुद्धिश्च न पुरुषविषयः स्याद्ग्रहीताऽग्रहीता च बुद्धेः सः अग्रहीतृत्वेऽस्त्येव केवलीति सिद्धं तस्य ज्ञातविषयत्वम् । किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात् गृहादिवत् क्लेशकर्मवासनादिभिर्विषयेन्द्रियादिभिश्च संहत्य पुरुषार्थमभिनिर्वर्त्तयतीति परार्था । पुरुषस्तु न तथा, किन्तु स्वार्थः सर्वे पुरुषाय कल्पते पुरुषस्तु न कस्मैचिदित्यर्थः । तथार्थाध्यवसायकत्वाद्बुद्धिस्त्रिगुणा सर्वार्थान् शान्तघोरमूढांस्तदाकारपरिणता बुद्धिरध्यवस्यति । सत्त्वरजस्तमसां चैतत्परिणामा इति सिद्धा त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति चेतन इत्यतो न सरूपः ।

(१) भोगः सुखाद्याकारशब्दाद्यनुभवः अपवर्गः सत्त्वपुरुषाऽन्यताऽनुभवः ।

(२) न दृश्यते सेति । इदमत्रावधेयं न हि पातञ्जलैरौपनिषद्वत्प्रतिजीवं भिन्ना प्रकृतिरभ्युपेयते यस्य जीवस्य वियोत्पन्ना तस्यापनीयते सा न जीवान्तरस्येति भिन्नाधिकरणयोर्विद्याऽविद्ययोर्विरोधाबिरहान्न तस्यैकत्वेन तदुच्छेदे सर्वोच्छेद इति ।

न्मादिभाजो भवन्ति इति या व्यवस्था सा नोपपद्येत । तथाच साङ्ख्यसूत्रमप्यस्ति 'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्व' मिति । वस्तुतस्तु जन्ममरण(१)करणानां प्रतिनियमादिति सांख्यकारिकायां तत्त्वकौमुद्यामिदं च बहुत्वं यदवच्छेदेन पुरुषस्य जन्मादिमत्वं तदवच्छिन्नस्यैव न तु शुद्धस्येति जातिपरत्वाद्वा नाऽद्वैतश्रुतिविरोध इत्यन्यत्र विस्तरः । यतो दृश्यं नष्टमप्यनष्टं पुरुषान्तरं प्रत्यस्ति अतो दृक्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगः । यद्यपि एकैकस्य महदादेः संयोगोऽनादिरप्यनित्य एव तथापि सर्वेषां महदादीनां नित्यः पुरुषान्तराणां साधारणत्वात् अत एतद्भवति यद्यप्यस्य महतः संयोगोऽतीततामापन्नस्तथापि महदन्तरस्य पुरुषाणां संयोगो नातीत इति नित्य उक्तः ॥ २२ ॥

दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय तयोः संयोगस्य यत्स्वरूपं तद्व्याख्यातुमाह—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

यतो दृश्यं तदर्थमतस्तज्जनितोपकारकं भजमानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति—भवति च स्वमस्य दृश्यम्, स चानयोः संयोगः शक्तिमात्रेण (संवेद्यसंवेदकत्वेन) व्यवस्थितस्तत्स्वरूपोपलब्धिहेतुः । एतेनास्वामी पुरुषो दृश्येन स्वेन योग्यतयैव (२)दर्शनार्थं संयुक्त इति भवति । स च सहजः संयोगो भोग्यभोक्तृभावस्वरूपानन्यः न हि नित्यव्यापकयोस्स्वरूपातिरिक्तः कश्चित्संयोगः यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोग इति भावः । तत्संयोगाद् या दृश्यस्योपलब्धिः सा भोगः या द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सा अपवर्गः । यतो दर्शनकार्यावसानः संयोगः (३)अतो दर्शनं तयोर्वियोगकारणम्-दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वि अदर्शन(४)मविद्या तत्संयोगनिमित्तमुक्तम् दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं कैवल्यकारणमुक्तम् ॥ २३ ॥

यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगस्तस्य कारणमाह—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

या पूर्वं विपर्ययज्ञानवासनात्मिकाऽविद्या व्याख्याता सा तस्य विवेकाऽख्यातिरूपस्य संयोगस्य हेतुः कारणम् न विपर्ययज्ञानवासनावासिता बुद्धिः कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं प्राप्नोतीत्यर्थः । सर्गान्तरीयाया अविद्यायाः स्वचित्तेन सह निरुद्धाया अपि प्रधानेऽस्ति वासना तद्वासनावासितं च प्रधानं तत्तत्पुरुषसंयोगिनीं तादृशीमेव बुद्धिं सृजति एवं पूर्वपूर्वसर्गेष्वित्यनादित्वात् । अत एव प्रातसर्गावस्थायां न पुरुषो मुच्यते यदा तु(५)पुरुषख्यातिं कार्यनिष्ठां प्राप्ता वासना तदा तस्या(विपर्ययज्ञानवासनायाः) बन्धकारणस्याभावान्न पुनरावर्त्तत इति भावः ॥ २४ ॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं व्यूहद्वन्द्वं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानमाह—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तस्यादर्शनस्याविद्याया इति यावत् (६)अभावाद्बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धोपरम

---

(१) जन्ममरणेति । जन्म चात्रापूर्वदेहेन्द्रियाद्यभिसम्बन्धो न तु परिणामः एवमुपात्तदेहादित्यागो मरणं न तु विनाशः आत्मनः कूटस्थनित्यत्वात् ।

(२) योग्यतयैवेति । न तु संयोगसम्बन्धः निरवयवयोर्विभ्वोः प्रधानपुरुषयोः संयोगासम्भवादिति भावः ।

(३) बुद्धिविशेषेण सह पुरुषविशेषस्य ।

(४) प्रलयकाले स्वाश्रयचित्तेन सह प्रधानसाम्यङ्गतापि सर्गकाले पुनः स्वाश्रयचित्तस्योत्पत्तिबीजं या विपर्ययज्ञानवासना सा अदर्शनमित्याह अविद्येति ।

(५) यदा त्विति । यदा स्वकर्त्तव्यचरमसीमां न प्राप्नोति सा वासना तदा साधिकारा सती पुनरावर्त्तते । यदा तु लब्धपुरुषख्यातिपर्यवसाना सती कार्यनिष्ठां प्राप्नोति तदा समाप्तकर्त्तव्या सती निवृत्तादर्शना न पुनरावर्त्तते बन्धकारणभावादिति भावः ।

(६) न दृश्यते स्वरूपं येन तददर्शनमज्ञानरूपमविद्या तस्याः । हानं दुःखस्य संसारनिवृत्तिः ।

एतद् हानम् । तद्धानं दृशेः पुरुषस्य कैवल्यममिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः । दुःखकारणसंयोगनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तं भवति ॥ २५ ॥

हानोपायमाह—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः (१) सा अविप्लवा (२)मिथ्याज्ञानरहिता सती हानस्योपायः । एतदुक्तं भवति । श्रुतमयेन ज्ञानेन विवेकं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्य दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेविताया भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्यातिर्निवर्त्तितसवासनमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति ॥ २६ ॥

विवेकख्यातिनिष्ठायाः स्वरूपमाह—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

तस्य प्रत्युदितख्यातेः (उत्पन्नविवेकज्ञानस्य) योगिनश्चित्तसत्त्वस्य तामसराजसव्युत्थानप्रत्ययानुत्पादे निर्विप्लवविवेकख्यातिनिष्ठामापन्नस्येति यावत् । सप्तधा सप्तप्रकारैव प्रज्ञा भवति । कीदृशी सा प्रान्तभूमिः प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्तथोक्ताः यतः परं नास्ति सम्प्रकर्ष इति भावः । प्रान्ता भूमयो यस्या विवेकख्यातेः प्रज्ञायाः सा । तत्र प्रथमं यावत्किल प्राधानिकं तत्सर्वं परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाद्दुःखमेवेति हेयं तत्परिज्ञातं मया न किञ्चिदपि ज्ञातव्यमस्तीति परिज्ञाता १ । क्षीणा हेयहेतवो मे न पुनस्ते क्षेतव्या इति क्षीणा द्वितीया २ । सम्प्रज्ञातावस्थायामेव निरोधसमाधिसाध्यं हानं (३)प्रत्यक्षेण निश्चितं मया न पुनरस्मात्परं निश्चेतव्यमिति साक्षात्कृता तृतीया ३ । निष्पादितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायो मया नास्याः परं भावनीयमस्तीति भाविता चतुर्थी ४ एषा चतुष्टयी प्रज्ञाया विमुक्तिः (समाप्तिः) कार्या । कार्यतया प्रयत्नसाध्यता (निष्पाद्यता) दर्शिता । चरिताधिकारा कृतभोगापवर्गकार्ये (४)ति बुद्धिः प्रज्ञा १ । गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखा गुणास्तेन सहास्तं गच्छन्ति न चैषां प्रलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति २ । एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषो जीवन्नेव मुक्त इत्युच्यते इति त्रयी प्रज्ञायाश्चित्तविमुक्तिरवस्थेत्युच्यते । एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायते प्रकृतिलयेऽपि कुशलो भवति गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

तदेवं चतुर्णां व्यूहानां मध्यपतितस्य हानोपायस्य विवेकख्यातेः साधनानुष्ठानात्प्रागसिद्धे(५)र-

---

(१) विवेकख्यातिरिति । अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य विवेकस्य या ख्यातिः साक्षात्कारः प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रत्यये निवृत्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानायारजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखायाश्चिच्छायासंक्रान्तिः सा विवेकख्यातिः ।

(२) अविप्लवेति । आगमानुमानाभ्यामपि विवेकख्यातिरस्ति न चासौ व्युत्थानं तत्संस्कारं वा निवर्त्तयति किन्तु अविद्यानिवृत्तिद्वारा साक्षात्कारवती तन्निवारयतीत्याह अविप्लवेति । न विद्यते विप्लवो विच्छेदान्तरो व्युत्थानरूपो यस्याः सा तथोक्ता । अनिवृत्तमिथ्याज्ञाना विवेकख्यातिर्विशेषेण प्लवते अन्तरे अन्तरे मिथ्याज्ञानवती भवति यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावमत एव बन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परवैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति सा विवेकख्यातिरविप्लवेत्यर्थः ।

(३) हानमिति । एतच्च व्युत्थानकालिकं वचनमसम्प्रज्ञातयोगदृष्टान्तेन कैवल्यमपि दृष्टप्रायमित्यभिप्रायेण निरोधसमाधौ कस्यापि साक्षात्कारस्याभावादिति भावः ।

(४) प्रयत्ननिष्पाद्याया अनुनिष्पादनीयामप्रयत्नसाध्यां त्रयीं चित्तविमुक्तिमाह कृतभोगापवर्गकार्येति ।

(५) विवेकख्यातिर्निष्पन्ना सत्येव हानोपायो भवति नानिष्पन्ना सती विवेकख्यातिनिष्पत्तिश्चाशुद्धिक्षयकारकयमाद्यनुष्ठानसाधनाधीनेत्यत आह प्रागसिद्धेरिति ।

सिद्धस्य चोपायत्वाभावादतस्तत्सिद्ध्युपायमाह—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानि (१)अष्टौ अभिधायिष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पञ्च पर्वाणो विपर्ययस्य पुण्यापुण्ययोर्जात्यायुर्भोगहेतुत्वेनाशुद्धिरूपत्वात्तयोश्च क्षये नाशे ज्ञानदीप्तिः सम्यक्ज्ञानस्याभिव्यक्तिर्भवति यथा यथा च (२)साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्र-

---

(१) योगस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य अङ्गानि योगाङ्गानीत्यर्थः ।

(२) यथायथेति । शौचादयोदृष्टद्वारेणाशुद्धिं नाशयन्ति स्वाध्यायदयश्चादृष्टद्वारेणाशुद्धिमपनयन्तीति भावः । अत्रेदं बोध्यम् । अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरित्युक्त्या यमादीनां ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वं तु प्रतिबन्धकापनयनद्वारा ज्ञानप्रापकत्वम् । एवञ्च येषां पूर्वजन्मानुष्ठितै रेव यमादिभिरशुद्धेरपगमो यथा जडभरतादीनां न तदनुष्ठानापेक्षाद्वारस्य पूर्वसिद्धत्वादिति ।

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाऽऽप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥

इति नवविधकारणमस्ति । तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य (विज्ञानमतीतावस्थातोऽपनीय वर्त्तमानावस्थामापादयत्तदुत्पत्तिकारणं विज्ञानस्य मन इत्यर्थः) १ । स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्याहार इव मनस्तावदवतिष्ठते न यावद्द्विविधं पुरुषार्थमभिनिवर्त्तयति २ । अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम् अभिव्यक्तिशब्देन बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयो बोधश्चेत्युभयं गृह्यते । तत्र बुद्धिवृतावालोकः कारणम् पौरुषेयबोधे च बुद्धिरूपं रूपज्ञानमिति भावः ३ । विकारकारणं मनसो विषयान्तरम् यथाग्निः पाक्यस्य सुवर्णादेः काठिनावयवसन्निवेशस्य प्रशिथिलावयवसंयोगलक्षणविकारस्य कारणम्, यथा मृकण्डमुनेः समाहितचित्तस्य वल्लकीविपञ्च्यमानपञ्चमस्वरश्रवणसमनन्तरमुन्मीलिताक्षस्य स्वरूपलावण्ययौवनसम्पन्नामप्सरसमुम्लोचामीक्षमाणस्य समाधिमपहाय तस्यामासक्तं मनो बभूवेति । ४ । प्रत्यय(ज्ञान)कारणं धूमज्ञानमाग्निज्ञानस्य ५ । आप्तिज्ञानं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः औत्सर्गिकी निरपेक्षाणां कारणानां कार्यक्रियाप्राप्तिः तस्याः कुतश्चिदपवादोऽप्राप्तिः यथा निम्नोपसर्पणस्वभावानामपां प्रतिबन्धः सेतुना तथेहापि बुद्धिसत्त्वस्य स्वप्रकाशशीलस्य स्वाभाविकी सुखविवेकख्यातिजनकताप्राप्तिः सा कुतश्चिदधर्मात्तमसो वा प्रतिबन्धनान्न भवति धर्माद्योगाङ्गानुष्ठानाद्वा तदपनये तदप्रतिबद्धवृत्तिस्वभावत एव तज्जनकतया तदाप्नोति यथा वक्ष्यति 'निमित्तमप्रयोजकमि'त्यादि सूत्रम् ४ पा० ३ सू० । तदेवं विवेकख्यातिलक्षणकार्यापेक्षया प्राप्तिकारणमुक्तम् अशुद्धिक्षयाद्यवान्तरकार्यापेक्षया तदेव वियोगकारणम् ६—७ अन्यत्वकारणं सुवर्णस्य सुवर्णकारः यथा कटककुण्डलकेयूरादिभ्यो भिन्नाभिन्नस्य सुवर्णस्य कुण्डलादन्यत्वं भेदविवक्षया, तयाच कटककारी सुवर्णकारः कुण्डलादभिन्नात्सुवर्णादन्यत्कुर्वन्नन्यत्वकरणम् । यद्यप्यग्निरपि पाक्यस्यान्यत्वकारणं तथापि धर्मिणो धर्मयोः पुलाकत्वतण्डुलत्वयोर्भेदविवक्षया धर्मयोरुपजनापायेपि धर्म्यनुवर्त्तत इति तस्याऽन्यत्वं वक्तुं शक्यमिति विकारकारणत्वमुक्तमिति न संकरः । न च संस्थानभेदो धर्मिणोन्यत्वकारणमिति व्याख्येयम् सुवर्णकार इति भाष्योक्तासङ्गतेरिति बाह्यमन्यकारणम् आध्यात्मिकं तत्तु अविद्या कमनीयेयं कन्येत्यादि ज्ञानं संमोहयोगात्स एव स्त्रीप्रत्ययो मूढो विषण्णो भवति चैत्रस्य मैत्रस्य पुण्यवतो बत कलत्रमेतत्र तु मम भाग्यहीनस्येति दुःखम् एवं सपत्नीजनस्य तस्यां द्वेषः स्त्रीप्रत्ययस्य (ज्ञानस्य) दुःखत्वे एवं विष्णुमित्रस्य तस्यां भर्तृरागस्तस्यैव सुखत्वे त्वङ्मांसमेदोस्थिमज्जासमूहः स्त्रीकायः स्थानबीजादिभिरशुचिरिति तत्त्वज्ञानं विवेकिनो माध्यस्थे (वैराग्ये) कारणमिति एकस्त्रीप्रत्ययस्य मूढत्वादिधर्मत्वेऽविद्यादिचतुष्टयं कारणमित्यर्थः । ८ । धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणां विधारकम् इन्द्रियाणि च शरीरस्य । ननु प्राणानां शरीरविधारकत्वमिति कथमिन्द्रियाणामिति चेत् न हि सांख्यनये नहि सामा-

मानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्वर्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवति आविवेकख्यातेः आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्ध्या बुद्धिसत्त्वं वियोजयति पुनस्तदशुद्ध्या बुद्धिसत्त्वं वियोजयविवेकख्यातिं प्रापयति यया धर्मः सुखामिति भावः ॥ २८ ॥

कानि योगाङ्गनीत्याकाङ्क्षायामाह—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

यथाक्रममेतेषामनुष्ठानम् । अभ्यासवैराग्य(१)श्रद्धावीर्यादयोऽपि यथायोगमेतेष्वेव स्वरूपतो नान्तरीयक(२)तया चान्तर्भावयितव्याः ॥ २९ ॥

तत्र यममाह—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

तत्र योगाङ्गमहिंसा लक्ष्यते भाष्यकृता 'सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह' इति । अनभिद्रोहोऽक्लेशजननम् । (३)सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनसश्चेति परस्मिन्पुरुषे स्वबोधसदृशबोधजननाय वागुच्चारिता अतः सापदि न वञ्चिका (४)न भ्रान्तिजा वा(५)

न्यकारणवृत्तिभ्यो ऽतिरिक्ताः प्राणा नाम सन्तीति सामान्यकारणवृत्तिर्हि प्राणाद्या वयवः । एवं मांसादिकायाङ्गानामपि परस्परविधार्यविधारकत्वम् एवं महाभूतानि (पृथिव्यादीनि) मनुष्यवरुणसूर्यगन्धर्वद्दशत्रिलोकनिवासिनां शरीराणाम् । पञ्चमहाभूतानि च पृथिव्यां गन्धरसरूपस्पर्शशब्दगुणायां परस्परं विधार्यविधारकभावेनावस्थितानि अप्सु चत्वारि तेजसि त्रीणि द्वे च वायौ तैर्यक्योनिमानुषदेवादीनि च परस्परं तथा भवन्ति । यथा मनुष्यशरीरं हि पशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरोपयोगेन ध्रियते । एवं व्याघ्रादिशरीरमपि मनुष्यपशुमृगादि शरीरोपयोगेन एवं पशुपक्षिमृगादिशरीरमपि स्थावराद्युपयोगेन एवं देवशरीरमपि मनुष्योपहृतच्छागमृगकापिञ्जलमांसाज्यपुरोडाशसहकारशाखाप्रस्ताराभिरिज्यमानं तदुपयोगेन एवं देवतापि वरदानवृष्ट्यादिभिर्मनुष्यादीनि धारयतीति अस्ति परस्परं विधार्यविधारकत्वम् । योगाङ्गानुष्ठानं तु प्राप्तिवियोगाविति द्विधैव कारणमित्यलम् ।

(१) ननु कथमष्टावित्यवधारणं प्रथमपादोक्तानामभ्यासादीनामसंग्रहादित्यत आह अभ्यासवैराग्येत्यादि ।

(२) नन्वेतत्पादादावुक्तानां तपआदिक्रियायोगानां नियमेषु स्वरूपतोऽन्तर्भावेपि अभ्यासादीनां कथं स्वरूपतोऽन्तर्भाव इत्यत आह । नान्तरीयकतयाचेति । अन्तरा विना भवा आन्तरीयाः गहादित्वाच्छः ततः स्वार्थकेन नशब्देन समासे च नान्तरीयकाः तेषां भावस्तत्ता तया अन्यनिष्पादकयत्नाननुनिष्पादनीयतयेत्यर्थः । यमाद्यनुष्ठाने सत्यभ्यासादीनामवश्यं भावितयाऽभ्यासादीनां नान्तरीयकत्वमिति भावः । यद्वा वैराग्यस्य सन्तोषेऽन्तर्भावः श्रद्धावीर्याभ्यां विना तपःस्वाध्यायानुष्ठानासम्भवात्तयोस्तयोरन्तर्भावः अभ्यासस्य च समाधावन्तर्भावः ।

(३) अक्लेशजननामिति । सत्यादयो यमनियमास्तत्फलकाः अत एव तत्सिद्धिपरत्वेन तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते अहिंसानिर्मलीकरणायैवोपादीयन्ते च 'तथाचोक्तं स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानो तामेवावदातरूपामहिंसां करोतीति । एवं तस्करैः सत्यतपसः सार्थगमनं पृष्टस्य सार्थगमनाभिधानमसत्यमेव तस्यघातसम्भवात् ।

(४) द्रोणाचार्येण स्वपुत्रमरणप्रश्नस्य आयुष्मन् सत्यधन अश्वत्थामाहत इति वाचो युधिष्ठिरप्रतिवचनंवञ्चिका ।

(५) भ्रान्तिश्च विवक्षासमये वा ज्ञेयार्थावधारणसमये वा ।

प्रतिपत्तिबन्ध्या वा (१)भवेत्तदा सत्यमिति । यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् तेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात् यथा—अश्वत्थामहस्तिनमभिसन्धाय सत्यं हतोऽश्वत्थामेति प्रतिवचनजन्यनरकदर्शनं युधिष्ठिरः प्राप्नुयात् तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । स्तेयम् अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः इन्द्रियान्तराण्यपि तत्र लोलुपानि रक्षणीयानि यतः संयतोपस्थोपि हि स्त्री प्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्मचर्यवानिति तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति । तथा चाह दक्षः—

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥ इति ।

अपरिग्रहः विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः अशास्त्रीयाणामयत्नोपनतानामपि विषयाणां निन्दितप्रतिग्रहादिरूपार्जनदोषदर्शनात् शास्त्रीयाणामप्युपार्जितानां रक्षणादिदोषदर्शनात् भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति सङ्गदोषात् नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः ॥ ३० ॥

सामान्यत उक्ता यादृशाः पुनर्योगिनामुपादेयास्तान् लक्षणयति प्रथमाङ्गानि यमान्—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य जालोपजीविनो मत्स्येष्वेव एवं व्याधस्य राज्ञो वा मृगादिवधेषु नान्यत्र जातिष्विति बोध्यम् । सैव तेषां न तीर्थे हनिष्यामीति देशावच्छिन्ना सैव न चतुर्दश्यां पुण्येऽहनि वा हनिष्यामीति कालावच्छिन्ना सैव त्रिभिरुपरतस्य (जात्याद्यवच्छिन्नहिंसाशून्यस्य) देवब्राह्मणार्थे हनिष्यामि नान्यथेति समयावच्छिन्ना तथाच क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा अहिंसा नान्यत्रेति। एवमेभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना किञ्चिदपि कदाचिदपि क्वचिदपि कस्मिंश्चिदर्थेऽपि न हनिष्यामीत्याद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमाः सर्वासु जात्यादिलक्षणासु भूमिषु विषयेष्वविदिताः सर्वथैवाविदितव्यभिचारा अहिंसादयो महाव्रतमित्युच्यत इत्यर्थः । आदिना सत्यादीनां चतुर्णामप्यवच्छेद ऊहनीयः(२)३१॥

द्वितीयाङ्गानि नियमानाह—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

तत्र शौचं मृज्जलगोमयादिजनितम् गोमूत्रपावकादि मेध्यस्याभ्यवहरणादि चेति बाह्यम् । आभ्यन्तरं चित्तमलानां मदमानासूयादीनामाक्षालनमपनयनं मनःशौचम् । सन्तोषः प्राणयात्रामात्रहेतोरभ्यधिकस्यानुत्पादित्सा प्रागेव स्वीकरपरित्यागात् । तपः द्वन्द्वसहनम् द्वन्द्वश्च जिघित्सापिपासे शीतोष्णे

---

(१) प्रतिपत्तिबन्ध्या यथा आर्यान् प्रति म्लेच्छभाषा निष्प्रयोजना वा स्यादिति यथानपेक्षिताभिधाना वाक् तत्र हि परत्र स्वबोधस्य संक्रान्तिरप्यसंक्रान्तिरेव निष्प्रयोजनत्वादिति सा एषा वागुच्चरिता सती भूतोपघाताय न भवेदपि तु भूतोपकारमेव कुर्यात्तदा मिथ्यापि सत्या ज्ञेया प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमित्यादिस्मृतेः । भूतापकारकं तु सत्यमपि फले न मिथ्यातुल्यमिति भावः ।

(२) ऊहनीय इति । तद्यथा—

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च ।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैवं स्याद्विवाहकरणेषु च ॥ इत्यादि स्मृतेः । प्राणत्राणाद्यर्थेऽनृतं वदिष्यामि नान्यथेति सत्यस्य समयावच्छिन्नत्वम् , एवं दुर्भिक्षादृते स्तेयं न करिष्यामि 'भिक्षिते पारदार्यं च न तद्धर्मस्य दूषकमि'ति स्मृतेर्याचितादृते परदारोपभोगं न करिष्ये एवं वृद्धमात्रादिप्राणत्राणादृते न प्रतिग्रहीष्येत्येवं सर्वत्रावच्छेदो बोध्यः ।

स्थानासने काष्टमौनाकारमौने च (१)व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् शय्यास्थो पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः (२)अथ संसारबीजानां रागादिसंस्काराणां क्षयमीक्षमाणः सन् नित्यमुक्तोऽमृतभोगभोगी स्यादिति । एते यमनियमा विष्णुपुराणे उक्ताः—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन् ।
स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः ॥
एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्त्तिताः ।
विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां विमुक्तिदाः ॥ इति ॥ ३२ ॥

श्रेयांसि बहुविघ्नानि इत्येषामपवादसम्भवे तत्प्रतीकारोपदेशपरं सूत्रमाह—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

हिंसादिभ्यो विपरीतास्तर्का विचारा वितर्काः हनिष्याम्यहमवश्यमपकारिणम् अनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य ग्रहिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीत्याकारका हननादिव्यवसाया इति यावत् । तैर्वितर्कैरेतेषां यमनियमानां बाधने प्राप्ते सति एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेण दीप्तेन बाधने च प्रतिपक्षभावनं कुर्यात् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मस्तं खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति (३) भावयेदित्यर्थः । वितर्काणामज्ञानजनितत्वेन दुःखफलकत्वात्ते हेया इति भावः ॥ ३३ ॥

प्रतिपक्षभावनात्स्वरूपाभिधित्सया सूत्रेणाह—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

वितर्का हिंसादयः तत्र हिंसा तावत् कृता(४) कारिताऽनुमोदितेति त्रिधा । तत्राप्येकैका लोभक्रोधमोहपूर्वका त्रिधा मांसचर्मार्थाल्लोभेन अपकृतमनेनेति क्रोधेन अस्य बधेन धर्मो मे भविष्यतीति मोहेन । लोभक्रोधमोहा अपि मृदुमध्याधिमात्रा इति त्रिधा । ते अपि पुनस्त्रेधा मृदुमृदुः मध्यमृदुः अधिमात्रमृदुः तथा मृदुमध्यः मध्यमध्यः अधिमात्रमध्यः मृदुतीव्रः (तीव्रोऽधिमात्रः) मध्यतीव्रः अधिमात्रतीव्रः इत्येवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवन्ति । पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येयाः प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् । ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञाना(५)ऽनन्तफला इति हेतोः प्रतिपक्षभावनम् । ननु हिंसादीनामज्ञानप्रभवत्वेन कथमज्ञानफलकत्वं तेषामिति चेन्न । अधर्मेत स्तमसः समुद्रेके चतुर्विधविपर्ययलक्षणस्याज्ञानस्याप्युदयात् इति प्रतिपक्षभावनाद्वितर्का हेयाः(६)॥३४॥

---

(१) काष्ठमौनम् इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम् । अवचनमात्रमाकारमौनम् ।

(२) वितर्का अनुपदवक्ष्यमाणलक्षणास्तेषां जालः सततभावनं वितर्कजालः ।

(३) यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददानः इत्याशयः एवमग्रेष्वपि वेदितव्यम् ।

(४) कृता स्वयंनिष्पादिता कारिता कुरुकुर्विति प्रयोजकव्यापारेण निष्पादिता अनुमोदिता साधु अनेन कृतेति एतेषां कारणप्रतिपादनायाह लोभेत्यादि । लोभः तृष्णा क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः मोहोऽधर्मे धर्मत्वबुद्धिः ।

(५) दुःखमाध्यात्मिकादित्रयम् अज्ञानं संशयाविपर्ययरूपमिथ्याज्ञानम् अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं ययोः ते अनन्तफले दुःखाज्ञाने एवानन्तफले येषां ते दुःखाज्ञानानन्तफला इत्यर्थः ।

(६) वितर्का हेया इति । हिंसकस्तावत्प्रथमं बध्यस्य वीर्यमाक्षिपति (पराक्रमशैथिल्यं करोति) ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति ततो जीवितादपि मोचयति ततः क्रमेण वीर्याक्षेपाद्बधकस्य स्त्रीपुरु-

यमनियमाभ्यासाद्ध्वबीजकल्पेषु वितर्केषु तज्जानितसिद्धिपरिज्ञानसूचकानि चिह्नान्युपन्यस्यति यतो यत्परिज्ञानायोगी तत्र तत्र कृतकृत्यः सन् कर्त्तव्येषु प्रवर्त्तते इत्याह—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

प्रतिष्ठिताहिंसस्य योगिनो भगवतः सान्निधौ तत्सान्निधानात्तच्चित्तानुकारिणो जन्तवः शाश्वतिकविरोधा अपि अश्वमहिषमूषकमार्जाराहिनकुलादयो वैरं परित्यजन्तीति ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

क्रियासाध्यौ धर्माधर्मौ क्रिया तत्फलं च स्वर्गनरकादि ते एवाश्रयतीति क्रियाफलाश्रयः तस्य भावस्तत्त्वम् तदस्य (सत्यप्रतिष्ठस्य) योगिनो वाचो भवति धार्मिको भूया इति पापोपि धार्मिको भवति स्वर्गं प्राप्नुहीति नारकी स्वर्गं प्राप्नोति अमोघा (अप्रतिहता) वागस्य भवतीति ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

सर्वदिक्स्थानि रत्नान्यस्योपतिष्ठन्ते दृश्यानि भवन्तीति यावत् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

वीर्यं सामर्थ्यमस्य लाभादप्रतिघान् गुणानणिमादीन् उपचिनोति तारसुतारतारतारम्यकसदामुदितप्रमोदप्रमुदितप्रमोदमानाख्याभिरष्टाभिः सिद्धिभिरुपेतो भवति शिष्येषु योगतदङ्गविषयं ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति चेति ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३९ ॥

निकायविशिष्टैर्देहेन्द्रियादिभिरभिसम्बन्धो जन्म तस्य कथन्ता किंप्रकारता तस्याः सम्बोधः साक्षात्कारः सप्रकारातीन्द्रियशान्तोदिताव्यपदेश्यजन्मपरिज्ञानमिति यावत् । कोऽहमासं कथमहमासं किं स्विदिदं शरीरं भौतिकं किं भूतानां समूहमात्रम् आहोस्वित्तेभ्योऽन्यदिति कथंस्विदिदं केवा भविष्यामः कथं वा भविष्यामः किंस्विदिदं भविष्यतीति–एवमस्यातीतानागतवर्त्तमानेष्वात्मभावजिज्ञासा (१)ततश्च ज्ञानं स्वरूपेणोपावर्त्तते यो हि यदिच्छति स तत्करोतीति न्यायात् ॥ ३९ ॥

नियमेषु सिद्धिमाह—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

स्वाङ्गे जुगुप्सा घृणा समुपजायते अशुचिरयं कायः एतैः (मृज्जलादिभिः) शौचैरपि न शुचित्वमुपगच्छति अनेन हेतुना परैरन्यैः कायैः (अत्यन्तमेवाप्रयतैः शवतुल्यैरिव मलिनैः) रसंसर्गः परिवर्जनं भवति शरीराध्यासरहितश्च भवतीति ॥ ४० ॥

अन्तरशुद्धिमाह—

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

भवन्तीति वाक्यशेषः । चित्तमलानामाक्षालने सत्त्वशुद्धिः चित्तसत्त्वममलं प्रादुर्भवति वैमल्याच्चै तत्सौमनस्यं स्वच्छता स्वच्छे सति तस्य ऐकाग्र्यमेकाग्रता ततो मनस्तन्त्राणामिन्द्रियाणां जयः (विषयपराङ्मुखत्वम्) तस्मादात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीति ॥ ४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

न विद्यतेऽस्मादुत्तम इत्यनुत्तमः स चैतत्सुखं तस्य लाभः प्राप्तिर्भवति लोके यच्च कामसुखं (ऐहिकविषयजनितं सुखं) यच्च स्वर्गभवं महत्सुखं एते सन्तोषसुखस्य नार्हतः षोडशीं कलामिति ॥ ४२ ॥

तपःसिद्धिसूचकमाह—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

---

(१) आत्मनो भावः शरीरादिसम्बन्धः तस्मिन् जिज्ञासा ।

तपसोऽशुद्धिक्षयान्निर्वर्त्त्यम नमेव तपो हिनस्त्यशुद्धिलक्षणमावरणमलमिति तस्मात् (तदावरण-मलापगमात्) कायसिद्धिः अणिमादिसिद्धिः तथेन्द्रियसिद्धिः दूराच्छ्रवणदर्शनादीति ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

अभिप्रेताया देवतायाः सम्प्रयोगो दर्शनं भवति देवऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनमुपगच्छन्ति कार्ये चास्य वर्त्तन्ते ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः यया च सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च । न चेश्वरप्रणिधानादेव सम्प्रज्ञातस्य समाधेरङ्गिनः सिद्धिः किन्तु सप्तभिरङ्गैरपि । ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ सम्प्रज्ञातसिद्धौ च दृष्टादृष्टावान्तरव्यापारेण तेषामुपयोगात् । अयं भावः । अभ्यानतनपेक्ष्य सफलत्वादादौ यमा निर्दिष्टाः ततो यमसापेक्षा नियमाः तदुभयसापेक्षाण्यासनानि तत्त्रितयसापेक्षाः प्राणायामाः तच्चतुष्टयसापेक्षः प्रत्याहारः तत्पञ्चसापेक्षा धारणा तत्षट्कसापेक्षं ध्यानम् तत्सप्तसापेक्षः समाधिरिति दृष्टावान्तरव्यापारः । ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ चित्तशुद्धिर्हेतुः तत्सिद्धौ अदृष्टावान्तरव्यापारेण यमादीनां सप्तानां हेतुत्वात् इति ॥ ४५ ॥

आसनान्याह—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

स्थिरं निश्चलं यत्सुखं सुखावहं तदासनम्, आस्यतेऽत्र आस्मे वाऽनेनेत्यासनमित्यर्थः । तस्य प्रभेदानाह भाष्ये तद्यथेति । पद्मासनं वीरासनमिदमेवार्द्धासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनमित्यादीति । एतेषां लक्षणानि ग्रन्थगौरवभयान्नोपकथितानि ॥ ४६ ॥

आसनस्वरूपमुक्त्वा तत्स्थैर्यस्योपायमाह—

प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

सांसिद्धिको हि प्रयत्नः शरीरधारको न योगाङ्गस्योपदेष्टव्यासनस्य कारणं तस्य तत्कारणत्वे उपदेशवैयर्थ्यात् स्वत एव तत्सिद्धेः, किन्तूपदेष्टव्यासनस्यायमसाधको विरोधी च स्वाभाविकः प्रयत्नः तस्मादुपदिष्टनियमासनमभ्यस्यता स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यात्मा प्रयत्न आस्थेयो नान्यथोपदिष्टमासनं सिद्ध्यतीति स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यमासनसिद्धिहेतुः । बहुव्यापारानन्तरं यदासनं क्रियते तदाऽङ्गकम्पनादासनस्थैर्यं न भवतीति भावः । अनन्ते नागनायके स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वम्भरामण्डले समापन्नं तद्धारणया तदात्मतापन्नं चित्तमासनं निर्वर्त्तयति तच्चानन्तानुग्रहाद्वा सजातीयभावनावशाद्वाऽदृष्टविशेषाद्वेत्यन्यदेतत् ॥ ४७ ॥

आसनप्रतिष्ठायां सिद्धिमाह—

ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः ॥ ४८ ॥

तत आसनजयात् (१)शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरनभिघातो भवति नाभिभूयत (२)इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनानन्तरं तत्पूर्वकतां प्राणायामस्य दर्शयन् तल्लक्षणमाह—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

तस्मिन् आसनजये सति श्वासप्रश्वासयोः कोष्ठ्यस्य वाय्वोः स्वाभाविकयोरन्तरागमनबहिर्गमनयोर्गतिर्व्यापारस्तस्य विच्छेदोऽभाव इति वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्य सामान्यलक्षणम् । शास्त्रोक्तरीत्या स्वभाविकगतेः प्रतिषेध इत्यर्थः । स च पूरकेरेचककुम्भकेष्वस्ति, तथाहि यत्र पूरके बाह्यो वायुराचाम्यान्तर्धार्यते तत्रास्ति तयोरुभयोर्गतिविच्छेदः यत्रापि रेचके कोष्ठ्यो वायुर्विरिच्य

(१) यदा आसनं बध्नामीतीच्छायां सत्यामक्लेशेनैवासनं सम्पद्यते तदासनस्य जयो निर्वर्त्तनम् ।
(२) आदिना क्षुत्पिपासादीनां द्वन्द्वानां ग्रहणम् ।

बहिर्धार्यते तत्रास्ति तयोरुभयोर्गतिविच्छेदः एवं कुम्भकेपीति । एतदेवोक्तं भाष्यकृता उभयाभावः (१) प्राणायाम इति । यथा यमनियमयोरन्यकालकृतयोर्योगाङ्गत्वं न तथैवासनस्य किन्तु प्राणायामाद्यङ्गप्रयुक्तत्वादित्येनेति तत्प्रतिपादयितुं तस्मिन् सतीति विशेषणम् । तथाच सत्यासन इति समाधिसूत्रपर्यन्तमनुवर्त्तनीयामिति ॥ ४९ ॥

प्राणायामत्रयलक्षणसूत्रमाह—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥५०॥

वृत्तिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यवृत्ती रेचकः यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरवृत्तिः पूरकः । यत्र सकृत्प्रयत्नादुभयोः श्वासप्रश्वासयोः सकृदेव गत्यभावो भवति तत्र न पुनः पूर्ववदापूरणप्रयत्नौघविधारकप्रयत्नो नापि रेचकप्रयत्नौघविधारणप्रयत्नोऽपेक्ष्यते किन्तु यथा तप्त उपले निहितं जलं परिशुष्यत्सर्वतः सङ्कोचमापद्यते एवमपि मारुतो वहनशीलो बलवद्विधारकप्रयत्ननिरुद्धक्रियः शरीर एव सूक्ष्मीभूतोऽवतिष्ठते स स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्ते इति कुम्भकः । अयं त्रिविधः प्राणायामः देशेन कालेन संख्यया च परिदृष्टः परीक्षितो(२)दीर्घसूक्ष्मोऽवलक्ष्यते । यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणे विरलतया दीर्घः सूक्ष्मश्च जायते तथा प्राणोपि देशकालसंख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मो भवतीत्यर्थः । यद्यपि संख्याभिरपि कालनियम एव क्रियते तथापि मात्राश्वासेयत्तादिरूपप्रकारभेदात्कथंचित् भेद इति भावः५०

---

(१) उभयाभाव इति । यद्यपि कुम्भके एव श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदोस्ति न पूरके तत्र श्वाससद्भावात् नापि रेचके तत्र प्रश्वाससद्भावात् तथापि स्वाभाविकश्वासप्रश्वासरूपावीशिष्टाभावस्य सर्वत्र सत्त्वेन सामान्यलक्षणोपपत्तिरिति भावः ।

(२) देशकालसंख्यापरीक्षा यथा तत्र देशो द्विविधः बाह्य आन्तरश्च तत्र इयानस्य देशो विषयः प्रादेशवितस्तिहस्तादिपरिमितो बाह्यः । हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्तदेशे श्वासः समाप्यते तत एव च हृदयपर्यन्तं प्रविशतीति स्वाभाविकी प्राणापानगतिः अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधारद्वारा निर्गच्छति नासान्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते एवं प्रवेशेपि तावानेवावगन्तव्यः । तत्र बाह्यव्याप्तिर्निर्वाते देशे इषीकतूलादेर्हस्तादिगतिक्रियया‌ऽनुमातव्येति बाह्यपरीक्षा । एवमान्तरव्याप्तिरपि आपादतलमस्तकं पिपीलिकास्पर्शतुल्यस्पर्शेनानुमातव्या सेयं देशपरीक्षा । निमेषावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षणस्तेषामियत्तावधारणावच्छिन्नः (स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नः) कालो मात्रा ताभिः षट्त्रिंशन्मात्राभिः परिमितः प्रथम उद्घातो मन्दः स एव द्विगुणीकृतो मध्यमः स एव त्रिगुणीकृतस्तीव्रः । उद्घातस्तु नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोर्विरेच्यमानस्य शिरस्यभिहननम् तथाच—

प्राणेनोत्सृज्यमानेन अपानः पीड्यते यदा ।
गत्वा चोर्द्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥

इति कालपरीक्षा । मतान्तरेण मात्रापरिणामोऽग्रे वक्ष्यते च । संख्यापरीक्षा च प्रणवादिजपावृत्तिभेदेन वा स्वस्थस्य हि पुंसः श्वासप्रश्वासप्रवेशगणनया वा भवतीति । यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिर्नावगम्यते परं च कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव । अत्र प्रसङ्गात्संक्षेपेण प्राणायामस्य प्रकारस्तद्भेदः सफलतत्सिद्धिलक्षणं चोच्यते । तत्र हठप्रदीपिकायाम्—

अथासने वशी योगी दृढे हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामं समभ्यसेत् ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं तथा ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥

याबद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥

कुलार्णवे—

अन्तश्चित्तो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनम् ।
समत्वं च शरीरस्य प्राणायामं समभ्यसेत् ॥

शिवसंहितायाम्—

सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः ।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥
समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः ।
दक्षे वामे च विघ्नेशक्षेत्रपालाम्बिकाः पुनः ॥
ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुध्य पिङ्गलां सुधीः ।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ॥
ततस्त्यक्त्वा पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ।
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन पुनः पुनः ॥
एवं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥
प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्द्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥

ज्ञानार्णवे—

कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम् ।
प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना ॥

योगियाज्ञवल्कीये—

निर्जने निलयेऽरण्ये वातातपविवर्जिते ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
मन्त्रैर्न्यस्य तनुर्धीरः सितभस्मधरः सदा ।
मृदासनोपरि कुशान् समास्थायाथ वाऽजिनम् ।
विनायकं सुसंपूज्य फलमूलोदकादिभिः ॥
इष्टदेवं गुरुं नत्वा तत आरुह्य चासनम् ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि जितासनगतः स्वयम् ॥
समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे दृक् सदा सम्यग् रुद्धे न्यस्येतरं करम् ॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बं ज्योत्स्नाजालविराजितम् ।

गोरक्षीये बिम्बद्वयं ध्यानं यथा—

अमृतं दधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामं समभ्यसेत् ॥
प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत् ।

हठप्रदीपिकायामपि—

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति पुनः सूर्येण रेचयेत् ॥
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
विधिवत्कुम्भकं कुर्यात्पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥
येन त्यजेत्तेनापूर्य धारयेदतिरोधतः ।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥
प्रातर्मध्यदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥

गोरक्षीये—

पूरकं द्वादशैः कुर्यात्कुम्भकं षोडशैस्तथा ।
रेचकं दशभोंकारैः प्राणायामः स उच्यते ॥

काशीखण्डे—

निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत् ।
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः ।
मध्यमं चोत्तमं चाथ प्राणायाममुपक्रमेत् ॥
मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रा लघ्वक्षरा मता ।
मध्यमो द्विगुणः प्रोक्त उत्तमस्त्रिगुणस्तथा ॥

घेरण्डीये—

उत्तमा विंशतिर्मात्रा षोडशी मध्यमा स्मृता ।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामेस्त्रिधा स्मृता ॥

मात्रालक्षणे याज्ञवल्क्यः—

अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् ।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥

स्कान्दे—

एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामे निगद्यते । इति । अस्य व्याख्यानं योगचिन्तामणौ निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति ।

पुनः स्कान्दे—

अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं च जान्वोश्च परिमार्जनम् ।
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥

पुनरपि तथा—

जानु प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम् ।
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥ इति ।

एवं च च्छोटिकाप्रदानकालस्तु सार्धत्रिविपलात्मकः कालः ३ ॥ सार्धद्वादशमात्रामितः (सार्धद्वादशश्वासपरिमितः) स तु किञ्चिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नकालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः अयमेव द्विगुणितो मध्यमः स एव त्रिगुणितः पञ्चविंशत्युत्तरशत१२५विपलात्मककालपरिमितः (पञ्चविपलाधिकाद्विपलात्मककालपरिमितः) उत्तमः प्राणायामे इति हठपदीपिकाव्याख्यानात् । अयमेव च्छोटिकात्रयावच्छिन्नकालस्य मात्रात्वविवक्षया

सार्धद्वादशमात्रक एव ॥

काशीखण्डे —

निमेषोन्मेषणे मात्रा तार लध्वक्षरं तथा ।

दीपिकायाम् —

कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम् ।
पर्यैति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासतुल्यया ॥

एवं योगतत्त्वोपनिषद्यपि ॥ गोरक्षीये—

एकश्वासमयी मात्रा उद्घायगगने गतिम् ।

श्वासस्तु दशविपलात्मकः कालः तथाच—

षष्ठिश्वासैर्भवेत्प्राणः षट्प्राणा(३६०श्वासः) नाडिका(१)मता ।
षष्ठिनाड्या (२१६००श्वासैः) अहोरात्रो जपसंख्याक्रमो मतः ॥

अन्यत्रापि च—

षष्ठ्युत्तरैस्त्रिशतै(३६०)र्निश्वासैर्घटिका मता ।
द्विनाडिका(७२०श्वास) मुहूर्त्तः स्यात्त्रिंशद्भिस्तै (२१६००) रहर्निशम् ॥ इति ।

इदमत्रमाकूतम् । वस्तुतो याज्ञवल्क्योक्ता मात्रा एकश्वासकालमिता (दशविपलात्मककालमिता) सम्भवति अन्या च स्कान्दोक्ता ततो न्यूना दीपिकोक्ता तु ततोपि न्यूना काशीखण्डोक्ता च ततोपि न्यूना एकप्रणवोच्चारणकालमितेत्यवगम्यते पञ्चविपलाधिकपलद्वयमितकालेनैकस्य प्राणायामस्य प्राणायामद्विष-ट्केनेत्यादिवक्ष्यमाणवचनेनसिद्धत्वात् । तत्राष्टादशविपलैः पूरकः द्विसप्ततिविपलैः कुम्भकः षट्त्रिंशद्विपलै-रेचकः स चाष्टादशविपलात्मकः कालः एकप्रणवोच्चारणकालमितमात्रया द्वादशमात्रामितः सम्भवति सार्धै-कविपलेनैकप्रणवोच्चारणस्यानुभवसिद्धत्वात् त्रिंशद्विपलाधिकपलद्वयेनैकशतप्रणवादीनां त्रिमात्रिकाणां जप-सम्भवात् ॥ एवं प्रथमारम्भे काशीखण्डोक्तमात्रया गोरक्षोक्तक्रमेणाभ्यासः कार्यः । तस्मिन् स्थिरीभूते तथैव मात्रया पूरकः तच्चतुर्गुणकुम्भकस्तदर्धेन रेचकः । परन्तु—

यावता पूरकः कार्यः कुम्भकस्तच्चतुर्गुणः ।
पूरकाद्द्विगुणस्त्यागः सर्वसाधारणो विधिः ॥

इतिवचनात् वक्ष्यमाणयोगिवचनस्वरसाच्च तस्मिन्नपि स्थिरीभूते षोडशमात्राक्रमेण तस्मिन्नपि स्थिरीभूते विंशतिमात्राक्रमेणाभ्यासो विधेयः । एवं क्रमेण षट्त्रिंशन्मात्राभिस्तस्मिन् स्थिरीभूते तस्या अपि गुरुमात्रयाऽभ्यासः कार्यः । एकश्वासमयमात्रयाऽष्टोत्तरशतमात्राभिः (अष्टाद-शपलात्मिकाभिः) पूरकस्तच्चतुर्गुणः कुम्भकस्तदर्धेन रेचक इत्येकः प्राणायामस्तीव्र इत्यु-च्यते । अत्र काश्चित् । यस्मिन् प्राणायामे एकच्छोटिकावच्छिन्नस्य ३॥ सार्धत्रिविपलात्मककालस्य मात्रात्वविवक्षया तद्द्वादशमात्रया किञ्चिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मककालेन पूरकः स कनिष्ठः प्राणा-यामः तद्द्विगुणो मध्यमः तत्त्रिगुण उत्तमः प्राणायामः अस्मिन् पूरकः एकश्वासमयमात्रया च्छोटि-काद्वयावच्छिन्नकालस्य मात्रात्वविवक्षया वा पञ्चविंशतिविपलाधिपलद्वयेन सार्धद्वादशमात्रिक एवेत्याह । अत्र चायं विवेकः । दशविपलात्मकमात्रया द्वादशभिः षोडशभिर्वा मात्राभिः पूरकक्रमेणाभ्यासो युक्तः यतस्तेन क्रमेणैव स गुरुतरः द्वादशमात्राक्रमेण विंशावृत्तस्य प्राणायामस्य चत्वारिंशत्पलाधिकचतुर्घ-टीभिः (४।४०।००) समाप्तिः । षोड़शमात्राक्रमेण च विंशतिविपलोत्तरत्रयोदशपलाधिकषट्घटीभि (६-।१३।२०) तस्य समाप्तिः का कथा षट्त्रिंशमात्राक्रमेणाभ्यासस्य यस्मिन् अभ्यासे चतुर्दशघटीभिर्विं-शावृत्तस्य प्राणायामस्य तस्य समाप्तिरस्तीति । किञ्च चतुर्विंशतिपलैः कुम्भके सिद्धे सति तथाभ्यासः (षट्त्रिंशन्मात्राक्रमेणाभ्यासः) सम्भवति तथासति पञ्चविंशतिपलपर्यन्तं कुम्भके सिद्धे तस्य प्रत्याहा-रत्वेन लक्षितत्वात् ।

दशविपलात्मकमात्रया परिगणनेन घटिकापलविपलानि—

मात्रा	पूरकः	कुम्भकः	रेचकः	मिलितानि	आवृत्तिः	पूर्णसमयः
०	दं०प०विप०	दं०प०विप०	दं०प०विप०	दं०प०विप०	०	दं०प०विप०
१२	००।०२।००	००। ८।००	००। ४।००	००।१४।०८	२०	४।४०।००
१६	००। २।४०	००।१०।४०	००। ५।२०	००।१८।४०	२०	६।१३ २०
२०	००। ३।२०	००।१३।२०	००। ६।४०	००।२३।२०	२०	७।४६।४०
२४	००।४०।००	००।१६।००	००। ८।००	००।२८।००	२०	९।२०।००
३६	००। ६।००	००।२४।००	००।१२।००	००।४२।००	२०	१४।००।००
७२	००।१२।००	००।४८।००	००।२४।००	१।२४।००	२०	१८।००।००
१०८	००।१८।००	१।१२।००	००।३६।००	२। ६।००	२०	४२।००।००

सार्धत्रिपलात्मकमात्रयापरिगणनेन तु—

१२	००।००।४२	००। २।४८	००। १।२४	००। ४।५४	२०	१।३८।००
१६	००।००।५६	००। ३।४४	००। १।५२	००। ६।३२	२०	२।१०।४०

सार्धैकविपलात्मकमात्रयागणनेन तु—

१२	००।००।१८	००। १।१२	००।००।३६	००। २।६	२०	००।४२।००
१६	००।००।२४	००। १।३६	००।००।४८	००। २।४८	२०	००।५६।००

तथाच प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥
धारणाद्वादशैः प्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेरेव समाधिरभिधीयते ॥
धारणा नाडिकाः पञ्च ध्यानं च षष्टिनाडिकम् ।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिरिह भण्यते ॥

इतियोगरत्नवचने धारणाद्वादशांशेन प्रत्याहारस्तद्द्वादशांशेन प्राणायामस्य सिद्धत्वात् । एतेन पञ्चविंशतिपलैरेकः प्राणायामः सिद्ध इत्युक्तं भवति । तीव्रस्तु एकश्वाससमयमात्रया षट्पलाधिकदण्डद्वये-नैकावृत्तः द्विचत्वारिंशत्घटीभिर्विंशावृत्तो भवति यतस्तत्र द्वादशपलाधिकैकदण्डेन कुम्भकोऽस्ति अतो न तथाभ्यासो युक्तः यस्य च योगिनस्तथाभ्यासे क्षमता स्यात्स चावश्यमेव तत्त्रिगुणेन द्विगुणेन वा कालेन (३दं. ३६. प. । २दं. २४ प.) केवलकुम्भकं चमेत कर्त्तुम्. तथासति ।

साहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ।
रेचकः पूरकः कार्यः स वै साहितकुम्भकः ॥
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्साहितमभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥
प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

इति हठप्रदीपिकावचनेन केवलकुम्भककृतः तथाभ्यासापेक्षाविरहावगमात् । तस्माद्धेरण्डोक्तक्रमेण काशीखण्डोक्तक्रमेण वा गोरक्षोक्तक्रमेण वाऽभ्यासो विधेय इत्यलम् ॥ योगियाज्ञवल्कीये—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचपूरककुम्भकाः ।
य एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥
इडया वायुमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥
धारयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ठ्या च मात्रया ।
उकारमूर्त्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत् ॥
यावद्वा शक्यते तावज्जारणं जपसंयुतम् ।
पूरितं रेचयेत्पश्चात्प्राणं बाह्यानिलान्वितम् ॥
शनैः पिङ्गलया गार्गि द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
जपेदत्र स्मरन् मूर्त्तिमकाराख्यं महेश्वरम् ॥
प्राणायामो भवेदेवं पुनश्चैवं समभ्यसेत ।
ततः पिङ्गलया पूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा ॥
मकारमूर्त्तिमत्रापि संस्मरन् सुसमाहितः ।
पूरितं धारयेत्प्राणं प्रणवं विंशतिद्वयम् ॥
यावद्वा शक्यते पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
एवमेवं पुनः कुर्यादिडया पूर्ववत्प्रिये ॥

पुनः प्रकारान्तरमाह सः--

यद्वा प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥
प्रणवेन समायुक्तां व्याहृतिभिश्च समन्विताम् ।
गायत्रीं वा जपेद्विप्रः प्राणसंयमने त्रयम् ॥
पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्यात्पुनश्चैवं त्रिसन्धिषु ।
यद्वा समभ्यसेन्नित्यं वैदिकं लौकिकन्तु वा ॥
प्राणसंयमने पश्चाज्जपेत्तद्विंशतिद्वयम् ।
ब्राह्मणः श्रुतिसम्पन्नः स्वधर्मनिरतः सदा ॥
स वैदिकं जपेन्मन्त्रं लौकिकं न कदाचन ।
केचिज्जनहितार्थाय जपमिच्छन्ति लौकिकम ॥
द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तः प्राणसंयमने जपः ।
वैश्यानां धर्मयुक्तानां स्त्रीशूद्राणां तपस्विनाम् ॥
प्राणसंयमने गार्गि मन्त्रं प्रणववर्जितम् ।
नमोन्तं शिवतन्त्रं वा वैष्णवं वा तथा बुधैः ॥
यद्वा समभ्यसेच्छूद्रः सूनार्षं विधिपूर्वकम् ।
प्राणसंयमने स्त्री च जपेत्तद्विंशतिद्वयम् ॥
न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्च न कदाचन ।
स्वाश्रमस्थस्य वैश्यस्य केचिदिच्छन्ति वैदिकम् ॥
सन्ध्ययोरुभयोर्नित्यं गायत्र्या प्रणवेन वा ।
प्राणसंयमनं कुर्याद्ब्राह्मणो वेदपारगः ॥
नित्यमेवं प्रकुर्वीत प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहननं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥
ऋतुत्रयात्पुनन्त्येतं जन्मान्तरकृतादघात् ।

संवत्सराद्ब्रह्मवधात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ॥
योगाभ्यासरतास्त्वेवं स्वधर्मनिरताश्च ये ।
प्राणसंयमनेनैव सर्वे मुक्ता भवन्ति हि ॥

अष्टविधकुम्भको निरुक्तो घेरण्डीये यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भिकाः ॥
सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्च निगर्भकः ।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निगर्भो बीजवर्जितः ॥

हठप्रदीपिकायां तु—

सूर्यभेदनमुज्जायी शीत्कारः शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनी चाष्टकुम्भिका ॥ इति पाठः ।

कुम्भकसिद्धेः सफललक्षणमाह योगी—

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।
कम्पे च मध्यमः प्रोक्त उत्थानश्चोत्तमो भवेत् ॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसम्भवः ।
सम्भवत्युत्तमे गार्गि ! प्राणायामे सुखी भवेत् ॥
प्राणो लयाति तेनैव देहस्यान्तस्ततोऽधिकः ।
देहश्चोत्तिष्ठते तेन कृतासनपरिग्रहः ॥
निश्वासोच्छ्वासकौ तस्य न विद्येते कथञ्चन ।
देहे यदापि तौ स्यातां स्वाभाविकगुणावुभौ ॥
तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि ।
तयोर्नाशे समर्थः स्यात्कर्तुं केवलकुम्भकम् ॥
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥
सहितं केवलं चापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
मनोलयत्वं लभते पालितादि विनश्यति ।
मुक्तेरयं महामार्गो मकाराख्योऽन्तरात्मदः ॥
नादं चोत्पादयत्येष कुम्भकः प्राणसंयमः ।
प्राणसंयमनं नाम देहे प्राणवि धारणम् ॥
एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्युप्रघातकः ।

प्रकारान्तरेण केवलकुम्भकोपायमाह घेरण्डः—

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ।
एकादिकचतुःषष्टिं धारयेत्प्रथमे दिने ॥
केवलीमष्टधा कुर्याद्यामे यामे दिने दिने ।
अथवा पञ्चधा कुर्याद्यथावत्कथयामि ते ॥
प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्यरात्रिचतुर्थके ।

त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् स समाने दिने दिने ॥
पञ्चवारं दिने वृद्धिर्वारैकं च दिने तथा ।
अजपापरिमाणं च यावत्सिद्धिः प्रजायते ॥
प्राणायामं केवलीं च तदा वदति योगवित् ।
कुम्भके केवली सिद्धौ किं न सिध्यति भूतले ॥

शिवसंहितायाम्—

स्वेदः सञ्जायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे ।
यदा सञ्जायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः ॥
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ।
द्वितीये हि भवेत्कम्पो दार्दुरो मध्यमे मतः ॥
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगने चरसाधकः ।
योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥
वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ।
तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम् ॥
अल्पनिद्रापुरीषं च स्तोकं मूत्रं प्रजायते ।
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शनम् ॥
स्वेदो लालाकृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ।
कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ॥
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ।
अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ॥

अन्यान्यपि फलानि विस्तरभिया न कथितानीत्यवधेयम् ।

अथ योगाभ्यासक्रमः—

योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनो योगसिद्धये ।
उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥ १ ॥

प्रातः—अरुणोदयमारभ्यासूर्योदयाद् घटिकात्रयपर्यन्तम् ।

गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् ।
शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम् ॥ २ ॥
शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ।
तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥
देशकालौ च सङ्कीर्त्य सङ्कल्प्य विधिपूर्वकम् ।
अनन्तं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥ ४ ॥

मणिभ्राजत्फणसहस्रविधृतविश्वम्भरामण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः ।

ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् ।
अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥ ५ ॥
करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत् ।
जालन्धरप्रसादार्थं कुम्भकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥
विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम् ।
योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्मात्र शिववाक्यतः ॥ ७ ॥

एवं त्रयो लक्षिताश्चतुर्थं लक्षयति—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

कूर्मपुराणे शिववाक्यं यथा—

नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान् सशिष्यांश्च विनायकम् ।
गुरुं चैवाथ मां योगी युञ्जीत सुसमाहितः ॥ १ ॥
बद्ध्वाभ्यसेत्सिद्धपीठं कुम्भकान् बन्धपूर्वकम् । (बन्धो जालन्धरः)
प्रथमे दश कर्त्तव्याः पञ्च वृद्ध्या दिने दिने ॥ २ ॥
कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः ।

चतुर्षु कालेष्वेकस्मिन् कालेऽशीतिप्राणायामाः ।

योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ॥ ३ ॥
अनुलोमाविलोमाख्यमेनं प्राहुर्मनीषिणः ।
सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ॥ ४ ॥
उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः ।
भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यानथापरान् ॥ ५ ॥

भस्त्राकुम्भकस्यैवं परिपाटी—एकं प्राणायामं कृत्वा वामनासापुटमवरुध्य दक्षिणनासापुटेन भस्त्रावेगेन पूरकरेचकाः कार्याः, श्रमे जाते तेनैव पुटेन पूरकं कृत्वा यथाशक्ति धारयेत् पश्चादिडया रेचयेत् । एवं दक्षिणपुटं निरुध्य वामेन तथैव कुर्यादित्येका रीतिः । द्वितीया तु वामपुटं निरुध्य दक्षिणेन पूरकम् कृत्वा कुम्भयित्वा च वामेन रेचयेत् । पुनर्वामेन पूरयित्वा दक्षिणेन रेचयेत् ॥ एवं शतधा यथाशक्ति वा कृत्वा श्रमे जाते वामेन पूरयित्वा कुम्भयित्वा च पिङ्गलया रेचयेदिति । तथा—

मुद्राः समभ्यसेद्बुध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम् ।
ततः पद्मासनम्बध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ॥ ६ ॥
अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः ।
अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ ७ ॥
स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः ।
मध्याह्नेपि तथाभ्यस्य किञ्चिद्विश्रम्य भोजनम् ॥ ८ ॥
कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यन्न कदाचन ।
एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्ते च भक्षयेत् ॥ ९ ॥
केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा ।
चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥ १० ॥

मध्याह्ने—पञ्चधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे ।

भोजनानान्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् ।
पुराणश्रवणं वापि नामसङ्कीर्तनं विभोः ॥ ११ ॥
सायं सन्ध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ।
यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ १२ ॥
अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसन्ध्या सदा बुधैः ।
अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ १३ ॥
विपरीता तु करणी सायंकालार्धरात्रयोः ।
नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ १४ ॥

इति योगिसम्प्रदायानुसारी पन्थाः ।

बाह्यविषयः प्रश्वासो रेचकः, आभ्यन्तरविषयः श्वासः पूरकः, तावाक्षिपति अतिक्रम्य वर्त्तते, अथवा तयोराक्षेपी आसमन्ताद्भावेन क्षेप्तुं निराकर्त्तुं शीलमस्य स बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी रेचकपूरकानपेक्षो यः कुम्भकः स चतुर्थः प्राणायामः, तावनपेक्ष्यैव केवलकुम्भकाभ्यासपाटवेनासकृत्तत्प्रयत्नवशाद्भवति चतुर्थः कुम्भक इति यावत्। रेचको य आदौ देशादिभिः परिदृष्टः स यदा आक्षिप्तोऽतिक्रामितो भवति एवं पूरकोपि यदाक्रामितो भवति तदोभयत्यागपूर्वको यः कुम्भको भवति स चतुर्थ इति भावः।

केचित्तु आक्षेपीत्यस्य आलोच्य वर्त्तते इत्याक्षेपी बाह्याभ्यन्तरविषयौ रेचकपूरकावभ्यासवशीकृताविष्पादितावत एव देशकालसंख्यादर्शनपूर्वकावालोच्याऽऽपेक्ष्य भवतीत्यर्थमाहुः। अस्यायं भावः। बाह्यविषयो रेचको यो देशादिभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः स यदाभ्यासवशेन भूमिजयादतिक्रामितो भवति एवं पूरकोऽपि यदाक्रामितो भवति तयोरुभयोर्गत्यभावकः स्वयमेव केवलश्चतुर्थः कुम्भको वर्त्तते। अयं च कुम्भको न रेचकपूरकदेशेन परिच्छिन्नो, व्यापकत्वात्, नापि कालसंख्यापरिच्छिन्नः, स्वेच्छया दिनपक्षमाससम्वत्सरादिकालस्थायित्वात्। तृतीयस्तु बाह्याभ्यन्तरविषयावनालोच्य (अनपेक्ष्य) सकृत्प्रयत्नानिर्वर्त्तितो गत्यभावको जायते, नियमेन रेचकपूरकयोस्तत्तद्विहितकालेऽभ्यस्यमानयोरन्तराल एव वर्त्तते, अत एव देशकालसंख्याभिः परीक्षितो दीर्घसूक्ष्म इति न तदुभयातिक्रमीत्युभयोर्भेदः। अनालोचनपूर्वः सकृत्प्रयत्ननिर्वर्त्तितस्तृतीयः, आलोचनपूर्वो बहुप्रयत्ननिर्वर्त्तितश्चतुर्थ इति विशेषः। रेचकपूरकविषयातिक्रमस्यापि लाभाय विषयघटितं लक्षणमुक्तम्। अत्रेदं बोध्यम्। कुम्भको द्विविधः सहितः केवलश्च। पूरकोत्तरं रेचकोत्तरं वा क्रियमाणः सहितः 'आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स सहितकुम्भकः' इत्युक्तेः। केवलस्तु—

> रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
> प्राणायामोयामित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥
> सहितं केवलं चापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्।
> यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥ इति वशिष्ठोक्तेः॥ ५१॥

योगे जनयितव्ये प्राणायामस्यावान्तरव्यापारमाह—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ ५२॥

ततः प्राणायामात् आव्रियतेऽनेनेत्यावरणम् बुद्धिसत्त्वप्रकाशावरणं विवेकज्ञानावरकं(१)कर्मक्लेशपाप्मा च प्राणायामानभ्यस्यतो योगिनः क्षीयते दुर्लभं(२)भवति विवेकज्ञानमावर्त्तुमक्षमं भवतीति यावत्। तथा प्रतिक्षणं क्षीयतेऽपचीयते च, तथाचोक्तमागमे—'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये'ति। मनुरप्याह—'प्राणायामैर्दहेद्दोषानि'त्यादि।

> किञ्च दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
> तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

ननु तपसैव पापक्षयसम्भवे किं प्राणायामेनेति चेन्न। ज्ञानावरकपापक्षये प्राणायामस्य श्रेष्ठत्वात्, विक्षेपकतया तपोऽन्तराभावेपि तेनैव योगनिष्पत्तिसम्भवात्॥ ५२॥

अन्यच्च भवतीत्याह—

धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

---

(१) विवेकज्ञानावरकमिति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं बुद्धिसत्त्वप्रकाशः विवेकस्य ज्ञानं विवेकज्ञानं तस्यावरकम् महामोहो रागः तदविनिर्भागवर्त्तिन्यविद्यापि तेन गृह्यते तन्मयेन तत्प्रचुरेणेन्द्रजालतुल्येन शब्दादिविषयेण द्वारभूतेन प्रकाशशीलमपि बुद्धिसत्त्वमावृत्य तदेव कर्म चाधर्मे संसारहेतुव्यापारे वा नियुंक्ते इति ज्ञानप्रतिबन्धकत्वमेव ज्ञानावरकत्वमिति बोध्यम्॥

(२) दुर्लभं भवतीति। यतो न सर्वथा क्षीयते अतस्तत्प्रक्षेपाय तपोऽप्यपेक्ष्यत इति भावः।

प्राणायामाभ्यासादेव धारणासु मनसो योग्यतेत्यन्वयः । प्राणायामो हि मनः स्थिरीकुर्वन् धारणायोग्यं करोतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणयति 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनादि'ति भाष्यकारः ॥५३॥

तदेवं यमादिभिः संस्कृतः इन्द्रियाणां संयमार्थं प्रत्याहारमारभेतेति तल्लक्षणमाह—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

स्वविषयासंप्रयोगे चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयैः संप्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्त्तनं तदभावि चित्तस्य विषयाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थितस्य स्वरूपानुकारः स्वरूपानुकरणमिव तेषामवस्थानं प्रत्याहारः । चित्तमपि मोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः शब्दादिभिर्विषयैर्न संप्रयुज्यते न संयुज्यते तदसंयोगाच्चक्षुरादीन्यपि न संप्रयुज्यन्त इति सोयमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारः । स्वविषयासंप्रयोगः साधारणो धर्मो निरोधहेतुः प्रयत्नश्च तुल्य इति सादृश्यम् । एवं च प्राणायामेन चित्ते जिते सति य इन्द्रियाणां स्वविषयाऽभिमुख्याभावनिमित्तश्चित्तस्वरूपानुकारश्चित्तस्वरूपानुकरणं स प्रत्याहार इति फलितोर्थः । चित्तनिरोधे चित्तवन्निरोद्धव्यानीन्द्रियाणि नोपायान्तरमपेक्षन्ते तेनैव तानि निरुद्धानि भवन्तीति भावः । जितेन्द्रियस्य हि ध्यानकाले चक्षुरादीन्यपि ध्येयवस्तुस्वाकारेण चित्तेन तुल्याकाराणीव भवन्ति न स्वातन्त्र्येण विषयान्तरं मनसैकीभूय तद्भूल्ययन्ति अतस्तस्येन्द्रियाणि चित्तानुकारीणीत्युच्यन्ते । अजितेन्द्रियस्य तु चक्षुरादीनि तदानीमपि स्वस्वविषयेषु मनसा सहैव धावन्ति अतस्तस्य चित्तमेवेन्द्रियानुकारि भवति । तस्य चापीन्द्रियाणि विषयभोगकाले चित्तानुकारीणि भवन्त्येवेति तद्व्यावृत्तये स्वविषयाऽसंप्रयोग इत्युक्तम् । इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याह्रियन्ते प्रातिलोम्येनाह्रियन्ते विमुखीक्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहारः । उक्तं च योगियाज्ञवल्क्येन—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ इति ।

जाबालदर्शनोपनिषदि—

यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन् समाहितः ॥ इति विशेषः ।

'यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति भावनात्सर्वविषयपराङ्मुखत्वं भवति स एव प्रत्याहार' इति शाण्डिल्योपनिषत् ॥ अत्रेदमपि बोध्यम् । प्राणायाम एवाभ्यस्यमानः प्रत्याहार इत्युच्यते—

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः ।

इति स्कन्दपुराणात्,

याममात्रं यदा धर्त्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ।
प्रत्याहारस्तदेव स्यान्नान्तरो भवति ध्रुवम् ॥ इति शिवोक्तेश्च ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारस्य फलमाह—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः प्रत्याहारात् इन्द्रियाणां परमा वश्यता परमो जयो भवतीत्यर्थः । वश्यता चानेकविधाऽस्ति या नेन्द्रियवृत्तीर्निरुणद्धि यथा—यथा शास्त्रविरुद्धेषु शब्दादिविषयभोगेष्वव्यसनमसक्तिः (असङ्गः) तेषु इन्द्रियाणि न प्रवर्त्तन्त इत्येका वश्यता । यया च स्वेच्छया शब्दादिष्विन्द्रियाणां संप्रयोगः भोग्येषु स्वतन्त्रा प्रवृत्तिर्न भोग्यतन्त्रेति सा द्वितीया । यया च रागद्वेषाभावनिमित्तकसुखदुःखशून्ये विषयभोगे प्रवृत्तिरिति सा तृतीयेति । नैताः परमा वश्यता इन्द्रियवृत्त्यनिरोधात् अतः परमेति विशेषणम् । यतः सा (प्रत्याहारजा) ऐकाग्र्याद्धेतोश्चित्तस्येन्द्रियैः सह शब्दादिषु भोग्येष्वप्रवृत्तिमेव तनोति चित्तनिरोधे इतरेन्द्रियाणि स्वयमेव निरुद्धानि भवन्ति न तदर्थं प्रयत्नान्तरमपेक्षन्ते योगिनः अतो हेतोरियं चित्तैकाग्र्यरूपा परमा वश्यतेति । उक्तश्च सप्रयोजनकः प्रत्याहारो विष्णुपुराणे—

शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥

वश्यता परमा तेन जायते निश्चलात्मनाम् ।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥ इति ।

अत एव गीतायां भगवान् श्रीकृष्णः—

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ इत्याह '
प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रयम्(१) ॥

इति विष्णुपुराणोपदेशादस्मिन् पादे क्रियायोगादिप्रत्याहारान्तं ससिद्धिकं योगाङ्गमुपदिदेश अग्रिमपादे धारणादिकं ससिद्धिकं कथयिष्यतीति शिवम् ॥५५॥

अत्र पादे क्रियायोगश्चिकं क्लेशाश्च पञ्च च ।
विपाकान् कर्मणां दृश्यद्रष्टोर्लक्षणकं तथा ॥
चतुरो व्यूहकान् सप्त प्रज्ञानाम सलक्षणम् ।
जगावङ्गानि योगस्य बहिरङ्गानि पञ्च च ॥

इति श्रीबलदेवमिश्रकृतायां पातञ्जलसूत्रव्याख्यायां योगप्रदीपिकायां
साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥
साधनपादः समाप्तः ।

अथ पातञ्जलदर्शने विभूतिपादः तृतीयः ॥ ३ ॥

प्रथमद्वितीयपादयोः समाधिस्तत्साधनं चोक्तम्, अस्मिन् पादे श्रद्धोत्पादनद्वारा तत्प्रवृत्तिहेतुका विभूतयो वक्तव्याः, तास्र धारणाध्यानसमाधिसमुदायसाध्याः इति विभूतिसाधनतया प्रत्याहारान्तेभ्यः पञ्चभ्यो योगाङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्योऽस्याङ्गत्रयस्यान्तरङ्गतया विशेषज्ञापनार्थमत्र तस्योपन्यासः तत्रापि च धारणाध्यानसमाधीनां कार्यकारणभावेन नियतपौर्वापर्यत्वात्तदनुरोधेन तेषां क्रमेणोपन्यास इति प्रथमं धारणां लक्षयति—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

देशबन्धः ध्यानाधारदेशविशेषे नाभिचक्रादावाध्यात्मिके बाह्ये वा विषये हिरण्यगर्भादौ वृत्तिमात्रेण(२) चित्तस्य बन्धः स्थापनं यत्तद्धारणेत्यर्थः । नाभिचक्रादिदशस्थानान्युक्तानि गारुडे यथा—

---

(१) शुभाश्रयम् इति । हिरण्यगर्भवासवप्रजापतिप्रभृतौ बाह्ये विषय इत्यर्थो वाचस्पत्यस्वरसादवगन्तव्यः ।

(२) वृत्तिमात्रेणेति । ज्ञानमात्रेणेत्यर्थः । न तु ध्येयकल्पनया अत एव ध्यानादेर्व्यावृत्तिः । बाह्ये च न स्वरूपेण चित्तस्य सम्बन्धः संभवतीत्युक्तं वृत्तिमात्रेणेति । तदुक्तमीश्वरगीतायाम्—

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।
एवमादिषु देशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥
देशावस्थितमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः ।
वृत्त्यन्तरैरसंसृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः ॥
एकाकारः समाधिः स्याद्देशालम्बनवर्जितः ।
प्रत्ययो ह्यर्थमात्रेण योगसाधनमुत्तमम् ॥

प्राङ् नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि ।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु ॥
किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तिताः ॥ इति ।

मुखे जिह्वाग्रे, मूर्ध्नि मूर्धस्थे ज्योतिषि । किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्चेति । मूर्ध्न उपरि द्वादशाङ्गुलपरिमिते देशे सप्राणस्य लिङ्गशरीरस्य तावत्पर्यन्तं प्रदीपशिखावदवस्थानादयानामुपलम्भाच्च तावत्पर्यन्तमेव लिङ्गशरीरानुगतोऽमोपलभ्यते, तदुक्तं कौर्मे—

शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये कल्पयित्वाऽथ पङ्कजम् । इत्यादिना ।

यद्यप्यत्र तालुस्थानं नोक्तं तथापि 'अतः परास्य धारणा तालुरसनाग्रनिपीडनादिति' मैत्र्युपनिषदो माद्यम् । 'मूर्त्तं भगवतो रूपं (१)सर्वोपाश्रयनिस्पृहमि'त्यादि विष्णुपुराणे विष्णुस्वरूपं धारणास्थानमुक्त्वा—

चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम् ।
तावद्यावद्दृढीभूता तत्रैव नृप ! धारणा ॥
एतदाधिष्ठितोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः ।
नापयाति यदा चित्तं सिद्धां मन्यते तां तदा ॥ इति ।

धारणासिद्धिलक्षणं कथितवानिति ॥ १ ॥

धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र तस्मिन् देशे ध्येयमूर्त्यवलम्बनस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्यैकतानता एकाग्रता सदृशप्रवाह इति यावत् ज्ञानान्तरैरपरामृष्टः सा ध्यानमित्यर्थः । उक्तं च पुराणे —

तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा ।
तद्ध्यानं षड्भिरङ्गैश्च प्रथमैर्निष्पाद्यते नृप ! ॥ इति ॥ २ ॥

---

(१) मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम् ।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥ १ ॥
तच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक्चिन्त्यं नराधिप ! ।
तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ॥ २ ॥
प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
सुकपोलं सुविस्तीर्णं ललाटफलकोज्ज्वलम् ॥ ३ ॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम् ।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ॥ ४ ॥
वलीविभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण च ।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम् ॥ ५ ॥
समस्थितोरुजङ्घं च स्वस्तिकाङ्घ्रिकराम्बुजम् ।
चिन्तयेद्ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् ॥ ६ ॥
किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषणम् ।
शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशङ्खाक्षवलयान्वितम् ॥ ७ ॥
चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम् ।
तावद्यावद्दृढीभूता तत्रैव नृप ! धारणा ॥ ८ ॥
एतदाधिष्ठितोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः ।
नापयाति 'न विषयोन्मुखीभवति' तदा चित्तं सिद्धां मन्यते तां तदा ॥ ९

ध्यानसाध्यं समाधिं लक्षयति--

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

मात्रशब्दः स्वरूपशून्यमिवेत्यनेन व्याख्यातः। यदा तदेव ध्यानमेव अर्थमात्रनिर्भासं ध्येयस्याकारेणैव साक्षिणि निर्भासते न तु ध्यानाकारनिर्भासम्, अत एव स्वरूपशून्यं ध्यानस्वरूपशून्यं ध्येयाध्यानस्य भेदकल्पना तद्धीनं ध्येयस्वरूपावेशेनाहमिदं चिन्तयामीत्येवं चित्तस्य प्रत्ययाकारवृत्त्यन्तरानुदयादिति यावत्। ननु शून्यं चेत्कथं प्रकाशेतेत्याह—इवेति। स्वरूपशून्यतापन्नमिवेत्यर्थः। इति यदा भवति तदा ध्यानमेव समाधिरुच्यत इति समुदायार्थः। अत्रापि पुराणं प्रमाणम्—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधेः सोऽभिधीयते ॥ इति।

तस्यैव ध्येयाध्यानभेदस्यैव। विक्षेपान् परिहृत्य मनः सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते यत्र स समाधिः। एतेन समाधिर्ध्यानविशेषतया लक्षितोऽपि न देशपरिच्छिन्नः अर्थमात्रचिन्तनस्य समाधिसामान्यलक्षणत्वादिति फलति। कालपरिच्छिन्नं तु वक्तव्यमेव। यद्यपि सूत्रकृता कालविशेषमनुपादायैव धारणादयो लक्षिताः, तथापि—

धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरिह भण्यते ॥ इति स्कान्दवाक्यात्,
प्राणयामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्।
तस्यैव (१)ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादशधारणा ॥
ध्यानद्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।
तिष्ठत्तन्मयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते ॥

इति गारुडाच्च तत्तत्कालावच्छिन्नत्वेन ते विशेषणीयाः क्षणमात्रेण धारणादीनां जयानुदयेन फलानुपपत्ते(२)रिति वेदनीयम् ॥ ३ ॥

धारणाध्यानसमाधय इत्येतत्त्रयस्य तत्र तत्र नियुज्यमानस्य प्रातिस्विकसंज्ञोच्चारणे गौरवं स्यादिति लाघवार्थं परिभाषासूत्रमाह—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकस्मिन्नर्थे त्रयं धारणाध्यानं समाधिरेतत्त्रयं संयम इत्युच्यते एकविषयाणां च त्रयाणां साधनानां तान्त्रिकी(३)परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

संयमसिद्धयो विस्तरतोऽग्रे वक्ष्यन्ते, साम्प्रतं संयमविजयस्याभ्याससाधनस्य योगाङ्गत्वाप्रयोजकफलमाह—

तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

तस्य संयमस्य जयः स्थैर्यं साम्यमिति यावत्, तस्मात्प्रज्ञाया आलोको दीप्तिः प्रत्ययान्तरानभिभूतस्य निर्मले प्रवाहेऽवस्थानमिति यावत् स भवतीत्यर्थः। एतदेवाह भाष्ये–'यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदीभवतीति'। वैशारद्यं च अतिसूक्ष्मव्यवहितादयर्थानां प्रत्यक्षीकरणसामर्थ्यमिति ॥ ५ ॥

---

(१) तस्यैवेति। द्वादशप्राणायामकालेन ब्रह्मणि धृतचित्तस्य द्वादशधारणाकालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तमित्यर्थः। ध्यानद्वादशपर्यन्तं तत्कालपर्यन्तमित्यर्थः।

(२) फलानुपपत्तेरिति। अयं भावः। यद्यपि सन्तु तादृशवृत्तिमात्रेण धारणादयः परं च न तथाभूतेन धारणादिना संयमजयः, किन्तु यथोक्तकालेन धारणादीनां नैरन्तर्यसत्कारासेवनेन संभवतीति।

(३) तान्त्रिकीति। तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते योगोऽनेन शास्त्रेण तत्तन्त्रं तत्र भवा तान्त्रिकीति।

क्व पुनर्विनियुक्तस्य संयमस्य फलमेतदित्यत आह—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य जितभूमेः संयमस्य स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मादिषूत्तरोत्तरासु जितासु भूमिषु विनियोगोऽनुष्ठानं कर्त्तव्य इत्यर्थः । अयं भावः । जिताया भूमेर्याऽनन्तरा भूमिरजितावस्था तत्र संयमानुष्ठानम् । स्थूलविषये सवितर्के समाधौ संयमेन वशीकृतेऽविजिते निर्वितर्के संयमस्य विनियोगः तस्मिन्नपि वशीकृते सविचारे विनियोगः । तस्मिन्नपि वशीकृते निर्विचारे विनियोगः । यथाच धनुर्धरादिषु स्थूललक्ष्यवेधाभ्यासाद्यनन्तरमेव सूक्ष्मलक्ष्यवेधादिकरणम् सोपानारोहादिषु च क्रमेणैवारोहादिदर्शनम् अन्यथाध पातसम्भवः, तथेहापीति बोध्यम् । एतदेवो [illegible] भाष्येण—'न ह्यजिताधरभूमि(१)रनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभत' इति । अधरभूमेर[illegible]था भूमिः । अनन्तरभूमिरव्यवहिता भूमिः । प्रान्तभूमिर्व्यवहितोत्तरा भूमिः । तथाचोक्तं गारुडे—

स्थित्यर्थं मनसः पूर्वं स्थूलरूपं विचिन्तयेत । तत्र तन्निश्चलीभूतं सूक्ष्मेऽपि स्थिरतां व्रजेत ॥ इति ।

अयं भूमिकारोहक्रमश्चौत्सर्गिकः ईश्वरप्रसादादेवादौ वशीकृतप्रकृतिपुरुषविवेकख्यात्यादिभूमिकस्य योगिनो नाऽधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु ग्राह्यसमापत्तिषु संयमोऽनुष्ठेयः अधरभूमिसंयमस्योत्तरभूमिजयप्रत्यासन्नस्येश्वरप्रणिधानादेवावगतत्वात् अस्या भूमेरियमन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायोऽवगन्तव्यः ।

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते । योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

इत्यागमात । योगेनाप्रमत्तः योगस्य सिद्धिलिप्साशून्य इति ॥ ६ ॥

कस्मात्पुनर्योगाङ्गत्वाऽविशेषेऽपि संयमस्य तत्र तत्र विनियोगो नेतरेषां पञ्चानामित्यत आह—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

तदिदं साधनत्रयं पूर्वेभ्यः पञ्चभ्यो यमादिभ्यः सकाशात्साध्यसमानविषयत्वेना(२)न्तरङ्गं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधरूपे संप्रज्ञाते साक्षादेव कारणम् न त्वसंप्रज्ञाते तस्य निर्बीजतया तैः सह समानविषयत्वाभावात, अत एवैतदग्रे 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्ये'ति वक्ष्यति । यमादिपञ्चकं तु न तथा चित्तस्थैर्यद्वारेण परंपरयैवोभयोः कारणमिति बहिरङ्गम् ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

तदपि तत्साधनत्रयं संप्रज्ञातस्यान्तरङ्गमपि निर्बीजस्यासंप्रज्ञातयोगस्य बहिरङ्गमेव एकस्याप्य-(३)-न्तरङ्गत्वस्य संयमेऽभावान्नासंप्रज्ञाते प्रत्यन्तरङ्गता ज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्येण संयमविलये कृते सति असंप्रज्ञातोत्पादादित्याशयः ॥ ८ ॥

अथ गुणव्यापारस्यास्थिरत्वात्त्रिगुणात्मकस्य चित्तस्य परिणामधाराऽऽवश्यकी निरोधक्षणेषु च परिणामो नानुभूयते, न चैव तत्र परिणाम इत्यपि न, चित्तस्य त्रिगुणात्मकतया चलत्वेन गुणानामपरिणामस्य क्षणमप्यसम्भवादिति, कीदृशस्तदा चित्तपरिणाम इति प्रश्नोत्तरसूत्रमाह—

---

(१) अधरभूमिः ग्राह्यसमापत्तिः अनन्तरभूमिः ग्रहणसमापत्तिः प्रान्तभूमिः ग्रहीतृसमापत्तिरिति बोध्यम् ।

(२) साध्यसमानविषयत्वेनेति । यदनन्तरं यद्भवति तत्तस्यान्तरङ्गं साधनमिति न नियमः ईश्वरप्रणिधानाद्वेति दर्शनेनेश्वरप्रणिधानजन्यसंप्रज्ञातास्युपगमेपि तं प्रति तस्यान्तरङ्गत्वानभ्युपगमात्, अतः साधनस्य साध्यसमानविषयत्वरूपान्तरङ्गत्वमिति लक्षितमिति नेश्वरप्रणिधानस्यान्तरङ्गत्वमिति भावः ।

(३) एकस्यापीति । साध्यसमानविषयत्वं यदनन्तरं यद्भवति तत्तस्यान्तरङ्गं तस्मिन्नुभयोरेकस्यापीत्यर्थः ।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्ता-न्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

यद्यपि व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्तानीति त्रयमेव परन्तु असंप्रज्ञातापेक्षया संप्रज्ञातोपि व्युत्थानम्, निरुध्यते अनेनेति निरोधो ज्ञानप्रसादः परवैराग्यं(१)ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां जनितौ यौ संस्कारौ तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवः क्रमेण ह्रासो न तु दाहः निरोधसंस्कारस्य प्रादुर्भावः क्रमेण वृद्धिः तौ, निरोधपरिणामः निरोधकालीनपरिणामः स च निरोधक्षणचित्तान्वयः चित्तस्य धर्मिणो निरोधक्षणस्य निरोधावसरस्य द्वयोरवस्थयोरन्वयः। प्रत्येकं निरोधक्षणेषु एकस्मिन् स्थिरे चित्तेऽन्वित इति यावत्। नहि चित्तं धर्मि संप्रज्ञातावस्थायामसंप्रज्ञातावस्थायां च संस्काराभिभवप्रादुर्भावयोः सतोः स्वरूपेण भिद्यते। अयं भावः। यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोभूतो भवति निरोधसंस्काररूपश्चाविर्भवति धर्मिरूपतया च चित्तस्योभयान्वयत्वेऽपि निरोधात्मनावस्थितं तत्प्रतीयते तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते। यद्यपि चलत्वाद्गुणवृत्तस्य चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथापि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यत इति ॥ ९ ॥

सर्वथा व्युत्थानसंस्काराभिभवे तु बलवता निरोधसंस्कारेण कीदृशः परिणाम इत्यत आह —

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

एतेन निरोधसंस्कारकल्पने प्रमाणमप्युक्तं भवति। संस्कारात् निरोधसंस्कारात् तस्य निरोधावस्थितचित्तस्य प्रशान्तवाहिता व्युत्थानसंस्कारमलरहितनिरोधपरंपरामात्रवाहिता भवतीत्यर्थः। परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं निश्चलनिरोधधारणया वहनशीलं भवतीति भावः। तत्र पुनः संस्कारपाटवमपेक्षणीयं न संस्कारमात्रम्, अन्यथा व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधसंस्कारोऽभिभूयेतेति ॥१०॥

चित्तस्य संप्रज्ञातसमाधिपरिणामावस्थां दर्शयति—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

सर्वार्थता नानाविधार्थग्रहणता विक्षिप्तता विक्षेपाश्चित्तधर्मः एकाग्रता एकस्मिन्नेवालम्बने सदृशपरिणामिता सापि चित्तधर्मः, तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ तिरोभावाविर्भावौ सर्वार्थताया अपायः एकाग्रताया उपजननम्-चित्तस्य समाधिपरिणामो भवतीत्यर्थः। पूर्वस्मात्परिणामादयं विशेषः अत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य तु व्युत्थानसंस्काररूपस्य न्यग्भावः उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानमिति ॥ ११ ॥

तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

ततः सर्वार्थताया निःशेषतः क्षयादनन्तरं पुनः समाधेः पूर्वापरीभूताया अवस्थाया निष्पत्तौ सत्यां च शान्तोदितौ अतीतवर्त्तमानौ तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ एकाकारज्ञाने चित्तस्यैकाग्रताकालीनः पुनः परिणामो भवति सजातीय एकैकः प्रत्ययो नश्यति अन्योऽन्य उत्पद्यते इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः। तौ समाध्यारूढस्य चित्तस्य आसमाधिभ्रंशादेकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

---

(१) परवैराग्यमिति। अत्र निरोधपदेनासंप्रज्ञात एव गृह्यते न तु संप्रज्ञातः निर्बीजसमाध्युपक्रम एव प्रकरणकरणात् ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञेति सूत्रात्संप्रज्ञाते स्फुटतरपरिणामानुभवाच्चेति भावः। द्वयोरवस्थयोराविर्भावतिरोभावरूपयोः व्युत्थानसंस्कारनिवृत्तये निरोधसंस्कारप्रचय एवोपासनीयः, न हि व्युत्थानस्य निवृत्तौ तत्संस्कारनिवृत्तिर्भवति संस्कारस्य प्रत्ययात्मकतया चिरनिरुद्धे तत्प्रत्यये संप्रति स्मरणदर्शनात्। न हि संस्कारा वृत्त्युपादानकारणकाः किन्तु प्रत्ययनिमित्तकाः इति निवृत्तिनिरोधेऽपि न निरुद्धास्ते यदुपादानकारणकात्मकं यत्कार्यं तत्कारणनिवृत्तौ तत्कार्यनिवृत्तेर्नियमादिति भावः॥

प्रासङ्गिकं च वक्ष्यमाणोपयिकं च भूतेन्द्रियपरिणामं विभजते—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

एतेन त्रिविधोक्तेन (१)चित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मान्तःकरणभेदेनावस्थितेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्च व्याख्यातो वेदितव्य इत्यन्वयः । तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावावेव धर्मिणि चित्ते धर्मपरिणामः अवस्थितस्यैव धर्मिणः पूर्वधर्मतिरोभावे धर्मान्तरस्य प्रादुर्भावो धर्मपरिणाम इति भावः । यद्यपि पूर्वसूत्रे व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरेवाभिभवप्रादुर्भावावुक्तौ तथापि व्युत्थाननिरोधयोरपायोपजननावर्थाल्लब्धाविति बोध्यम् । तथाच तेनैव सूत्रेणाभिभवप्रादुर्भावशब्दाभ्यां धर्मलक्षणपरिणामोऽप्युक्तः लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं कालभेदः(२) स चावस्थितस्य धर्मस्यानागतादिलक्षणत्यागे सति वर्त्तमानादिलक्षणलाभः अतीतत्ववर्त्तमानतयोरेवाभिभवप्रादुर्भावत्वादिति भावः । इति लक्षणपरिणामः ।

---

(१) त्रिविधोक्तेनेति । धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं क्षणमपि न गुणवृत्तमवतिष्ठते इत्येतेन सर्ववस्तुषु परिणामत्रयमिति सिद्धम् ॥

(२) कालभेद इति । तेन हि लक्षितं वस्तु वस्त्वन्तरेभ्यः कालान्तरयुक्तेभ्यो व्यवच्छिद्यत इति भावः । अयं च लक्षणपरिणामस्त्रिलक्षणः (त्रिभिः कालैर्युक्तः) स खल्वनागतलक्षणं कालं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमतिक्रान्तः (य एव निरोधोऽनागत आसीत्स एव) सम्प्रति वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपन्नो न तु प्रागसत्त्वेनासन्नेव एषोऽस्य (लक्षणपरिणामस्य) प्रथममनागतमध्वानमपेक्ष्य द्वितीयोऽध्वा (वर्त्तमानावस्था) । न चायं निरोधो वर्त्तमानतामापन्नोऽतीतानागताभ्यां सामान्यरूपेणावस्थिताभ्यां वियुज्यते । तत्रैकोऽत्रोद्भूतोऽपरावनुद्भूतौ अतो न विरोधः उद्भूतयोरेव परस्परं विरोधो न तूद्भूतानुद्भूतयोरिति भावः । न च तासामवस्थानामुत्पत्तिविनाशौ भवतः असदुत्पादसद्विनाशयोरसंभवात् । एवं व्युत्थानमपि त्रिलक्षणम् (त्रिभिरध्वभिर्युक्तम्) निरोधस्य वर्त्तमानतायां व्युत्थानं वर्त्तमानलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नमेषोऽस्य तृतीयोऽध्वा । न च तदनागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम् । एवं पुनर्व्युत्थानमुत्पाद्यमानमनागतं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमतिक्रान्तं वर्त्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नं यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तिः (अर्थक्रियाक्षमस्याविर्भावः) एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । निरोधस्य चातीतलक्षणस्तृतीयोऽध्वा । एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति लक्षणपरिणामः तज्जातीयेषु पौनःपुन्येन वर्त्तत इति भावः । धर्मपरिणामसूचित एवावस्थापरिणाम उच्यते—धर्माणां वर्त्तमानाध्वनां बलवत्त्वाऽबलवत्त्वे अवस्था तस्याः प्रतिक्षणं तारतम्यं परिणामः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामवस्थाभिः परिणाम इति । तत्र निरोधलक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति । एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते (गुणानां वृत्तं प्रचारो व्यापारः) तस्य स्वाभाविकचाञ्चल्यात् य एष भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिणोर्भेदमाश्रित्य त्रिविधपरिणामो निर्दिष्टः स च व्यावहारिको वेदितव्यः । परमार्थतस्तु (क)एक एव परिणामः धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो न त्वतिरिक्तः किन्तु धर्मिविक्रियैव धर्मो धर्मलक्षणावस्थाद्वारा प्रपञ्च्यते । तत्र धर्मिणि धर्मस्य

(क) परमार्थतस्तु तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादेर्घटादेर्वा धर्मपरिणामः धर्माणां चातीतानागतवर्त्तमानरूपतालक्षणपरिणामः वर्त्तमानलक्षणापन्नस्य गवादेर्बाल्यकौमारयौवनवार्धक्यमवस्थापरिणामः । घटादीनामपि नवपुराणताऽवस्थापरिणामः । एवमिन्द्रियाणामपि तत्तन्नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः । धर्मस्य च वर्त्तमानतादिर्लक्षणपरिणामः लक्षणस्यापि रत्नाद्यालोचनस्य स्फुटत्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः सोयमेवंविधो भूतेन्द्रियपरिणामो धर्मिणो धर्मलक्षणावस्थानां भेदमाश्रित्य वेदितव्यः, अभेदमाश्रित्याह परमार्थतस्त्वित्यादि ॥

वर्त्तमानस्यैवातीतानागतवर्त्तमानेष्वध्वसु भावान्यथात्वं (संस्थानभेदस्यान्यथात्वं) भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम् यथा सुवर्णभाजनस्य छित्वाऽन्यथा क्रियमाणस्य कटककुण्डलादेर्भावान्यथात्वम् (रुचकस्वस्तिकव्यपदेशभेदो भवति) न तु द्रव्यं सुवर्णमसुवर्णतामाप्नोति, अत्यन्तभेदाभावादिति। ननु पृथिव्यादीनां धर्मा घटादयो वर्त्तमानैकलक्षणयोगे अतीतानागते लक्षणान्तरे नानुभूयेते तत्कथमेकलक्षणयोगे लक्षणान्तराभ्यां वियुक्ता धर्मा इत्युच्यते न ह्यनुभवाभावः प्रमाणसिद्धमपलपति तदुत्पाद एव तत्र सद्भावो प्रमाणम् असत उत्पादासम्भवान्नराविषाणवत् । यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवति एवं च घटादिर्धर्मस्त्रिष्वध्वसु (कालत्रयेषु) वर्त्तमानत्वेन सन्नेव न त्वसन्निति । न च लक्षणपरिणामे सर्वेषां सर्वलक्षणयोगात (अतीतानागतवर्त्तमानलक्षणयोगात) कालसंकरः अनुक्रमेण चाध्वनां भावेऽसदुत्पादप्रसङ्गश्चेति वाच्यं, न तावद्धर्माणां धर्मत्वं साधनीयम् तस्य प्राक् साधितत्वात् सिद्धे च धर्मत्वे धर्माणां लक्षणभेदोपि (अवस्थाबाहुल्यमपि) वक्तव्यः । न पुनस्तार्किकवद्वर्त्तमानमात्रमेवैकं लक्षणम्—न हि वर्त्तमानसमयमात्रेऽस्य धर्मस्य (घटादेः) धर्मत्वं किन्त्वतीतादिसमयेऽपि वर्त्तमानतेव हि धर्माणामनुभवसिद्धा, ततः प्राक् पश्चात्कालसम्बन्धमवगमयतीति भावः । अन्यथा (वर्त्तमानकाल एव धर्मत्वेऽङ्गीकृते सति) क्रोधोदयकाले न रागधर्मकं चित्तं स्यात् रागस्यानाविर्भावात् क्रोधोत्तरकालं हि चित्तं रागधर्मकमनुभूयते यदा च रागः क्रोधसमयेऽनागतत्वेन नासीत्तत्कथमसावुत्पद्येत—अनुत्पन्नश्च कथमनूभूयेतेति । किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः कस्मिन् वस्तुनि एकस्यां चित्तवृत्तौ क्रमेण तु लक्षणानामेकतमस्य लक्षणस्य स्वाभिव्यञ्जकेनानुपादानकारणात्मकाविर्भावकेणाभिव्यक्तिः सम्भवेत् न सर्वस्य सा, लक्ष्याधीननिरूपणतया लक्षणानां लक्ष्याकारेण तद्वत्ता (अभिव्यक्तिमत्ता) इत्याविर्भावतिरोभावरूपविरुद्धधर्मसंसर्गाध्वनामसंकर इति । अत्रैकान्तवादी (धर्मधर्मिणोरत्यन्ताभेदवादी) बौद्ध आह 'धर्मी (सुवर्णादिः) धर्मेभ्यः कुण्डलादिभ्योऽतिरिक्तो न भवति' कुतः ? पूर्वतत्त्वस्य (धर्मिस्वरूपस्य) अनतिक्रममाणकुण्डलादिष्वनुगतत्वात् (अन्वयत्वात्) यदि हि धर्मी अन्वयी स्यात (पुनर्निवर्त्तमानेष्वपि धर्मेषु द्रव्यमनुगतं भवेत्) तर्हि अतीतावस्थास्वप्यनुगतत्वेन सदातनत्वप्रसङ्गात् न चितिशक्तिवत्परिणमेत अपि तु परिणामात्मकरूपं परिहाय रूपान्तरेण कौटस्थ्येनैव परिवर्त्तेत (तिष्ठेत्) यथा चितिशक्तिर्नानाभावं भजमानेष्वपि गुणेषु स्वरूपादप्रच्युता कूटस्थनित्यैव तिष्ठति तथा सुवर्णादावपि स्यात् तच्च भवतापि नेष्यते तस्मान्न द्रव्यमतिरिक्तं धर्मेभ्य, इति । अत्र परिहरति भाष्यकारः—अयमदोषः, कस्मात् ? एकान्तानभ्युपगमात् अत्यन्ताभेदस्यास्वीकारात् । यदि च चिच्छक्तिरिव द्रव्यस्यात्यन्तिकीं नित्यतामभ्युपगच्छेम तत एवायं दोषः सम्भवेत् न त्वैकान्तिकीं नित्यतामातिष्ठामहे, किन्तु तदेतत्त्रैलोक्यं न तु द्रव्यमात्रम् अर्थक्रियाकारिणो रूपादपगच्छति (कूटस्थनित्यत्वाभावेन वर्त्तमानतामपहायातीततां प्राप्नोतीति भावः) यदि हि घटो व्यक्तेः (अर्थक्रियाकारिणो रूपात्) नापेयात् तर्हि कपालशर्कराचूर्णादिष्ववस्थासु व्यक्तो घट इति पूर्ववदुपलब्ध्यर्थक्रिये कुर्यात् तस्मादनित्यं त्रैलोक्यम् । न चानित्यमपि उपलब्ध्यर्थक्रियारहितत्वेन गगनारविन्दवदत्यन्ततुच्छम्—अतीततायामपि अतीतरूपेण प्रकृत्यादिधर्मिरूपेण चास्त्येव(क) अत्यन्तोच्छेदाभावात् (अत्यन्ततुच्छताया अभावात्) अत एव नैकान्ततोऽनित्यम् विनाशप्रतिषेधात्, यत्तुच्छं न तत्कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थक्रिये करोतीति, तथाचोत्पत्तिमद्द्रव्यत्वधर्मलक्षणावस्थायोगित्वादयोप्यत्यन्ततुच्छगगनारविन्दनरविषाणादिभ्यो व्यावृत्ताः सत्त्वहेतव उदाहार्याः । एवं नात्यन्तनित्यो येन चिच्छक्तिवत्कूटस्थनित्यः स्यात् किन्तु कथंचिन्नित्यः तथाच परिणामीति सिद्धम् । अत एव च ४।१३ ज्ञणप्रतियोगीतिसूत्रे वक्ष्यते च 'द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामनित्यता चे'ति । एतेन मृत्पि-

(क) अस्त्येवेति । अत एवातीततामापन्नो घटादिधर्मो योगिप्रत्यक्षगोचरो भवतीति लोके प्रसिद्धम् । न हि गगनारविन्दादिस्तथा भवतीति ।

अवस्थापरिणामश्च संस्कारयोर्बलवत्त्वदुर्बलत्वे ते च घटस्य नवपुराणादिवत् वृद्धिह्रासौ न चोत्पत्तिविनाशरूपत्वे लक्षणपरिणामभेदानुपपत्तेः लक्षणस्यैव नवपुराणत्वादिनाऽवस्थापरिणा । इति वक्ष्यमाणाच्च । ननु द्रव्यस्यैव वृद्धिह्रासौ दृष्टौ न गुणस्येति चेन्न । रूपादीनामपि वृद्धिह्रासयोरनुभवात् रूपभेदकल्पने च गौरवात् तदेव रूपमिदानीमिति प्रत्यभिज्ञानाच्च, तस्मात्संस्कारस्यादृष्टादेश्चास्ति अवस्थापरिणामः । ज्ञानेच्छादिषु चोत्पत्तिविनाशानुभवात्क्षणद्वयमात्रस्थायित्वेपि द्वितीयक्षणे वर्त्तमानलक्ष-

---

ण्डादि अवस्थात्रये कार्याणामनागतानां घटादीनां सत्त्वं (उपादानकारणं) वेदितव्यम् । नन्वतीतमप्यस्ति चेत्काय कथं पूर्ववन्नोपलभ्यते तदुपलभ्यताम् इति चेन्न । तस्य स्वकारणलयेन दर्शनानर्हत्वादनुपलब्धिरिति । ननु सत्यमेकान्ताभ्युपगमेऽपि भेदोऽस्तीति धर्मलक्षणावस्थाऽन्यत्वे धर्माणां तदभिन्नस्य धर्मिणोप्यन्यत्वप्रसङ्गः स च नेष्यते तदनुगमानुभवविरोधादिति चेदुच्यते । अयं च लक्षणपरिणामो न धर्मिणो येनानुगतत्वप्रसङ्गः, किन्तु धर्माणां यतो धर्मा घटादय एव अध्वानः (अतीतादिकालत्रययोगिनः) न धर्मी मृदादिः अतस्ते घटादयो धर्मा एव तां तां नवपुराणताद्यवस्थां प्राप्नुवन्तोऽवस्थान्तरत एव भिन्नत्वेन निर्दिश्यन्ते न धर्मिणः सकाशात् । द्रव्यस्य धर्मिणः सर्वावस्थास्वनुगतत्वात् । एतदुक्तं भवति । अनुभव एव हि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति न ह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो धर्मिरूपवद्धर्मादित्वम् । नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्वादिवद्धर्मादित्वम् , स चानुभवोऽनैकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि उपजनापायधर्मकेष्वपि धर्मादिषु धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतो व्यावर्त्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयते इति । यथा यदेव रेखास्वरूपं शतस्थाने तत्तत्स्थानापेक्षया शतादित्वेन व्यपदिष्यते तथैव तदेव धर्मिस्वरूपं तत्तद्धर्मलक्षणावस्थाभेदेन भिन्नत्वेन प्रतिनिर्दिश्यते । यथा चैका स्त्री सम्बन्धिभेदेन माता दुहिता स्वसा चोच्यते तथैव तत् (मृत्पिण्डं) धर्मादिभेदेन घटादयो व्यपदिश्यन्त इति ॥ ननु धर्मलक्षणावस्थानां परिणामे तेषां कौटस्थ्यदोषप्रसङ्गः अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् , दध्नः किल योऽनागतोऽध्वा तस्य व्यापारः क्षीरस्य वर्त्तमानत्वं तेन व्यवहितत्वात् , यदा दधिलक्षणो धर्मः क्षीरे सन्नपि स्वव्यापारं दधित्वाख्यकार्यारम्भं न करोति तदाऽनागतः सः, यदा करोति तदा वर्त्तमानः, यदा सन्नेव कृत्वा निवृत्तः स्वव्यापाराद्दधिकारारम्भात्तदाऽतीतः, इत्येवं त्रैकाल्येपि सत्त्वाद्धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च सर्वदा विद्यमानत्वरूपमुत्पादरहितत्वं कौटस्थ्यं प्राप्नोति । न हि कूटस्थस्य नित्यायाश्चितिशक्तेरपि सकाशात्कश्चिदन्यो विशेषस्तेषामिति चेत् । उच्यते । नायं दोषः, गुणिनो नित्यत्वेऽपि गुणानां या विमर्दः अन्योन्याभिभाव्याभिभावकत्वं तस्य वैचित्र्यात् । यद्यपि सर्वदा चतुर्णामपि गुणिगुणानां विद्यमानत्वमस्ति तथापि गुणविमर्दवैचित्र्येण गुण्यात्मभूततद्विकाराविर्भावतिरोभावभेदेन परिणामशालितया न कूटस्थत्वम्—चितिशक्तेस्तु न स्वात्मभूतविकाराविर्भावतिरोभाव इति कौटस्थ्यम् । एतेन न सर्वदा विद्यमानत्वमेव कौटस्थ्यमपि तु अविकारितयैकान्तनित्यत्वं कौटस्थ्यलक्षणं तच्च पुरुष एव नान्यत्रेत्युक्तम् भवति । यथा शब्दतन्मात्रादीनां धर्ममात्रमाकाशादिसंस्थानमादिमत् विनाशि च, तथा सत्त्वादीनां धर्ममात्रं महत्तत्त्वाख्यं लिङ्गमप्यादिमत् विनाशि च, तस्मिन् महत्तत्त्वादिरूपे धर्मे विकारसंज्ञा परिणामसंज्ञा च । एवं च मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसंपद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति, घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपद्यते इति लक्षणतः परिणमते, घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति । धर्मिणोपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शितः । एवं पदार्थान्तरेष्वपि बोध्यम् । एते सर्वे परिणामा धर्मिस्वरूपमनुगता भवन्तीत्यत एक एव धर्मरूपः परिणामः । धर्मलक्षणावस्थाभेदानां धर्मशब्दवाच्यत्वाद्धर्मरूप एवैकः परिणामः पारमार्थिक इति भावः । परिणामस्तु अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तराभिव्यक्तिरूप इति ॥

णस्यावस्थापरिणामो भवति क्षणत्वेनैव परिणामहेतुत्वात् अन्यथा सर्ववस्तूनां प्रतिक्षणपरिणामस्यानुभवसिद्धस्यानुपपत्तेः। यद्यपि अवस्थानामपि बाल्यादीनां लक्षणपरिणामोऽस्ति, तथापि यथोक्तक्रमेण न काप्यनुपपत्तिः। ननु वर्त्तमानलक्षणस्य नवपुराणाद्यवस्थापरिणामोऽस्तु अनागतातीतलक्षणयोस्तु कीदृशोऽवस्थाभेदः स्यादिति। उच्यते। शीघ्रभाविष्यताविलम्बभाविष्यतादिरूपो विशेषस्तयोरपि लक्षणयोरनुमीयते स्तम्भादिवदेव गुणत्वेन प्रतिक्षणपरिणामित्वसिद्धेरिति दिक्॥ १३॥

यस्यैष त्रिविधः परिणामस्तं धर्मिणं लक्षयति—

शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥

शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीता इति यावत्, उदिता ये वर्त्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति वर्त्तमाना इति यावत्, अव्यपदेश्याः न व्यपदेष्टुं शक्यन्ते ये तेऽव्यपदेश्याः शक्तिरूपेण स्थिता भविष्यन्त इति यावत्, तान् धर्माननुपतितुं शीलं यस्यासौ शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी धर्मोऽस्यास्तीति धर्मीत्यर्थः। अत्राव्यपदेश्येति विशेषणं धर्मधर्मिणोर्विवेकदर्शनाय, तथाच वर्त्तमानत्वावर्त्तमानत्ववैधर्म्येण तयोर्विवेक इति भावः। नाविज्ञाते धर्मे शक्यो ज्ञातुमिति धर्मं लक्षयति भाष्यकारः—'योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्म' इति। दग्धशक्तेरपि संग्रहाय योग्यतावच्छिन्नेत्युक्तम्(१) वर्त्तमानता स्वरूपयोग्यता तेनातीतादिसाधारण्यलाभः। नियतकार्यकारणरूपयोग्यतयाऽवच्छिन्ना धर्मिणो द्रव्यस्य मृदादेः शक्तिरेव चूर्णपिण्डघटाद्युत्पत्तिशक्तिरेव धर्माः तेषां तथाव्यक्तत्वेन भाव इति यावत्। एवकारो वर्त्तमानादिविशेषव्यवच्छेदार्थः। शक्तित्वं चानागन्तुकत्वं, तथा चाग्नेदाहशक्तिवद्धर्मा अपि धर्मिणि यावद्द्रव्यभाविनो न हि शक्तिवियोगः शक्तिमतोऽस्ति। शक्तिशक्तिमतोरभेदादिति भावः। अत्र प्रमाणं दर्शयति- स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भावः एकस्या(२)न्योऽन्यश्च परिदृष्ट—इति(३)। अस्यार्थः फलप्रसवे

---

(१) योग्यतावच्छिन्नेति। याऽसौ घटादीनामुत्पत्तिशक्तिः सोदकाहरणादियोग्यतावच्छिन्ना तेनोदकाहरणादयोपि घटादिभिः स्वकारणादेव प्राप्ता इति नाऽऽकस्मिका इति भावः। अथवा के धर्मिण इत्यस्योत्तरं योग्यतावच्छिन्ना धर्मिण इति। को धर्म इत्यस्योत्तरं शक्तिरेव धर्म इति। तेषां योग्यतैव धर्मोऽस्तस्तद्वान् धर्मीति सिद्धम्।

(२) एकस्येति। एकस्य धर्मिणोऽन्योन्यश्चूर्णपिण्डघटादिरूप इत्यर्थः। कार्यभेददर्शनाच्च भिन्न इति यावत्।

(३) परिदृष्टः उपलब्धः। त्रिषु शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मेष्वनागत एव समनन्तरः पूर्वत्वेन भवति वर्त्तमानस्य नातीतः, यद्यतीतोपि घटः पुनर्वर्त्तमानः स्यात्तर्हि तथा भवेत्, यदा तु स एवायं घट इति कदाचित्प्रत्यभिज्ञायमान उपलभ्येत, नोपलभ्यते च, अतो न योग्यानुपलभ्यातीतव्यक्तेरुन्मज्जनमेव निश्चीयते। एवमतीतस्य वर्त्तमानः पूर्वत्वेन समनन्तरो न त्वव्यपदेश्य इति। स्यादेतत्—अथ केषु वस्तुषु के भविष्यन्तो धर्माः सर्वं वस्तु सर्वात्मकं (सर्वशक्तिमत) एवं च निखिलपरिणामिनि वस्तुनि अवस्थिताः सूक्ष्मरूपेण याः सर्वविकारजननशक्तयस्ता एवाव्यपदेश्या इत्युच्यन्ते, तथाच जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यम् जलस्य हि रसरूपस्पर्शशब्दवतो भूमेश्च गन्धरसरूपस्पर्शशब्दवत्याः पारिणामिकं स्थावरेषु वनस्पतिलतागुल्मादिषु मूलफलप्रसवपत्रादिगतरसादिवैश्वरूप्यं दृष्टं सा न तदात्मिकाभूमेर्नेदृशस्य जलस्य वा परिणामो न भवितुमर्हति, उक्तं हि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इति। एवं जङ्गमेषु स्थावराणां पारिणामिकं (परिणामनिमित्तकं) मनुष्यपशुमृगादिषु रसादिकं दृष्टम् फलादीनुपभुञ्जमानास्ते रूपलावण्यादिभेदसम्पदमासादयन्ति। एवं जङ्गमानामपि पारिणामिकं स्थावरेषु दृष्टं रुधिरावसेकात्किल दाडिमीफलानि तालफलमात्राणि भवन्ति, जलभूम्योर्विद्यमाना या रसादिविकारजननशक्तिः साऽव्यपदेश्येत्युच्यत इति भावः। एवं सर्वं (जलभूम्यात्मकं सर्वरसाद्यात्मकं) जलत्वभूमित्वादिजात्यवच्छेदेन सर्वात्मकमिति स्पष्टम्। ननु सर्वात्मकं चेद्धन्त भोः सर्वस्य सर्वदा

कार्योत्पादे यो भेदः मृयेव घट, तन्तुषु पट इत्याकारको विशेषः तेनानुमितः सद्भावोऽव्यक्तावस्थया कारणेऽवस्थानं यस्य स एवंभूतो योग्यतारूपो धर्म एकस्य धर्मिणोऽनेकविधो दृष्ट इति ॥ १४ ॥

किमेकस्य धर्मिण एक एव धर्मलक्षणावस्थालक्षणः परिणाम उत बहवो धर्मलक्षणावस्थालक्षणाः परिणामाः । तत्र किं प्राप्तम् ? एकत्वाद्धर्मिण एक एव परिणामः । नहि एकरूपात्कारणात्कार्यभेदो भवितुमर्हतीत्येवं प्राप्ते आह—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमान्यत्वं क्रमभेद एव परिणामान्यत्वे परिणामभेदे हेतुः कारणमित्यर्थः ।

यथा(१) उत्पत्तौ एकस्या मृदो धर्मिण्याश्चूर्णपिण्डघटाकारपरिणतिक्रमः लये तु कपालकणचूर्णाकारपरिणतिक्रम इति(२)॥ १५ ॥

सर्वथा सर्वत्र सन्निधानात्समानकालीनभावानामभिव्यक्तिः प्रसज्येत-न खलु सन्निहिताऽविकलकारणं कार्यं विलम्बितुमर्हतीति चेन्न । देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु तथाऽभिव्यक्तिः । अयं भावः । यद्यपि सर्वं कारणं सर्वात्मकमस्ति, तथापि यो यस्य कार्यस्य देशस्तत्र तस्याभिव्यक्तिः यथा कुंकुमस्य काश्मीरे, पाञ्चालादिषु तेषां कारणानां सत्त्वेऽपि न कुंकुमस्य तत्राविर्भावः, एवं निदाघेन प्रावृषः समुदाचारः (स्वोचितार्थक्रियाकरणस्वरूपेणाभिव्यक्तिराविर्भावः) इति न तदा शालीनामभिव्यक्तिः । एवं न मृगी मनुष्यं प्रसूते न तस्यां मनुष्याकारसमुचारः । एवं नापुण्यवान् सुखं भुङ्क्ते न तस्मिन् पुण्यानिमित्तस्य समुदाचार इति । तस्माद्देशकालाकारनिमित्तानामपबन्धात् अपगमात्, न समानकालं भावानामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती (अन्वयी) सामान्यविशेषात्मा (सामान्यं धर्मिरूपं विशेषो धर्मस्तदात्मा) उभयात्मकः सोऽन्वयी इति धर्मिलक्षणं सिद्धम् ॥ यस्य योगाचारस्य वैनाशिकस्य मते निर्धर्मिकं (धर्ममात्राकारात्मकं) विज्ञानमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य मते भोगाभावप्रसङ्गः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यात् । अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणो भोक्तृत्वेनान्यत्कथमधिक्रियेत । तथा तत्स्मृत्यभावश्च नान्यपुरुषदृष्टस्य स्मरणमन्यपुरुषस्य भवति, न हि देवदत्तेन दृष्टं प्रत्यभिजानाति यज्ञदत्तः, तस्मात् यश्चानुभविता स एव प्रत्यभिज्ञातेति । तस्मात्स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानाच्च सिद्धोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥

(१) यथेति । घटोत्पत्तौ एकैव मृत् प्रथमं चूर्णमृत्तिष्ठति ततः पिण्डमृद्भवति ततश्च घटमृद्भवति घटलये प्रथमं कपालमृद्भवति ततः कणमृद्भवति ततश्चूर्णमृद्भवतीति धर्मिक्रम इति भावः ।

(२) परिणतिक्रम इतीति । यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः तस्य क्रमः पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायते इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षणपरिणामक्रमश्च घटस्यानागतभावाद्वर्त्तमानभावक्रमः तथा पिण्डस्य वर्त्तमानभावादतीतभावक्रम इति । एवं च अन्यच्चेदं चूर्णपिण्डयोरानन्तर्यमन्यच्च पिण्डघटयोरन्यच्च घटकपालयोरन्यच्च कपालकणयोरन्यच्च कणचूर्णयोरिति । नातीतस्यास्ति क्रमः तस्यानागतवर्त्तमानाभ्यां सह पूर्वपरत्वायोगेन समनन्तरत्वाभावस्योक्तत्वात् तस्माद्द्वयोरेव लक्षणयोः क्रम । तथाऽवस्थापरिणामोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते सा च क्षणपरंपरानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिं (पुराणताकाष्ठां) प्राप्नोतीति धर्मलक्षणाभ्यां विशिष्टोयं तृतीयः परिणामः य एते क्रमा धर्मधर्मिभेदोपचारे सति प्रतिलब्धस्वरूपा भवन्ति । अन्यस्वरूपापेक्षया धर्मोऽपि धर्मी भवति यथा मृच्चूर्णापेक्षया मृत्पिण्ड इति । यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्द्वारेण स (धर्मी) एवाभिधीयते धर्मः यदैकत्वेनैवायं क्रमः प्रत्यवभासते । इत्यादेतत् । चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाः वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः ते च सप्तैव भवन्ति, यथा—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् । चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ इति ।

एते चागमानुमानाभ्यां ज्ञापितसद्भावाः यथा निरोधो वृत्तीनाम् असंप्रज्ञातावस्था चित्तस्यागमेन

अतः परमापादसमाप्तिरुपात्तसर्वसाधनस्य योगाजिज्ञासितार्थसाक्षात्काराय धारणादिध्यानैष्ठस्य योगिनः संयमस्य विषयविशेषो दर्शनीयः। तत्रोक्तप्रकारं परिणामत्रयमेव तावत्प्रथमं संयमविषयतया प्रदर्शयति—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

परिणामत्रये धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु अस्य धर्मिणोऽयं धर्मपरिणामः तस्य चायं लक्षणपरिणामः तस्य चायं नवपुराणाद्यवस्थापरिणाम इत्येवमनुक्षणं यत्र कुत्रचिदर्थे संयमात्साक्षात्कारे सति तादितरार्थानामपि धर्मादिपरिणामेषु अतीतानागतज्ञानं संकल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः। अन्यविषयकसंयमात्प्रतिनियतपदार्थान्तरसाक्षात्कारश्च योगजधर्मबलाद्भवतीति शास्त्रप्रामाण्यादवधार्यते, धर्मविशेषात्स्वर्गविशेषवत् योगजन्यासिद्धिवत् भुवनज्ञानं सूर्ये संयमादिति वक्ष्यमाणसिद्धिवच्चेति ॥ १६ ॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

गौरित्यादिः शब्दो गौरित्यादिरर्थो गौरित्यादिः प्रत्ययः, तेषां वक्ष्यमाणां सङ्केतरूपादध्यासात्संकरो विवेकाग्रहणं भवति। वस्तुतस्तु तेषां भेदोऽस्ति अतस्तेषां प्रविभागे संयमात्(१) साक्षात्कृते सति सर्वभूतानां पशुपक्षिसरीसृपप्रभृतीनां रुतानि शब्दास्तेषां ज्ञानं भवति अयं काकादिरिममर्थमेवं प्रतीत्यानेन शब्देन कथयतीत्येवं ज्ञानं भवतीत्यर्थः। यद्यपि साक्षात्कृते सतीति सूत्रे नास्ति तथापि संस्कारसाक्षात्करणादित्युत्तरसूत्रे साक्षात्कारपर्यन्तस्यैव संयमस्य सिद्धिकथनात्सर्वेषु सूत्रेषु संयमस्य साक्षात्कारद्वारकं व्याख्येयम्। अत एव भाष्यकारोपि अनेकसूत्रेषु तस्य दिग्दर्शनार्थं साक्षात्कारपर्यन्ततां व्याख्यास्यतीति १७॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संयमसिद्धिप्रकरणत्वात्संस्कारसंयमेनेति सूत्रस्यादौ पूरणीयम्। संस्कारा वासनारूपाः स्मृतिक्लेशयोः(२) हेतवः। धर्माधर्मरूपाश्च संस्कारा जात्यायुर्भोगरूपविपाकहेतवः। ते कथंभूताः? पूर्वभवेषु निष्पादिताः परिणामचेष्टाः निरोधशक्तिजीवनरूपाश्चित्तधर्मवत्तेष्यतीन्द्रियाश्चित्तधर्माः(३) तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु सपरिकरेषु संयमः द्वयेषां संस्काराणां साक्षात्क्रियायै समर्थः तज्जन्यसंस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजन्मजातीनां योगिनो ज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानमात्रस्य साक्षात्करणादित्यर्थमाह वाचस्पतिः। रागादिमत्याः स्वकीयचि-

---

ज्ञायते संस्कारशेषभावस्त्वनुमानतः समधिगम्यते इति प्र०पा० ५१ सूत्रे स्पष्टम्। धर्मग्रहणेन पुण्यापुण्ये उपलक्षयति। ते चागमतः सुखदुःखोपदर्शनादनुमानतो वाऽवगम्यन्ते।२। संस्कारस्तु स्मृतेरनुमीयते३। एवं चित्तस्य त्रिगुणत्वाच्चलं च गुणवृत्तमिति प्रतिक्षणं परिणामोऽनुमीयते४। एवं जीवनं प्राणधारणप्रयत्नभेदोऽसंविदितश्चित्तस्य श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते५। एवं चित्तस्य चेष्टा क्रिया यथा यथा तैस्तैरिन्द्रियैः शरीरप्रदेशैर्वा संप्रयुज्यते सापि तत्संयोगादनुमीयते६। एवं शक्तिरप्युद्भूतानां कार्याणां सूक्ष्मावस्था चेतसो धर्मः स्थूलकार्यानुभवादेवानुमीयत इति।७॥

(१) संयमादिति। संयमजन्य एव शब्दार्थप्रत्ययप्रविभागसाक्षात्कारः सर्वभूतरुतज्ञाने हेतुः अत एवायोगिनां शब्दार्थप्रत्ययभेदं संयमाय जन्यसाक्षात्कारे सत्यपि न तस्य तेषां ज्ञानमिति भावः।

(२) स्मृतिक्लेशयोरिति। स्मृतिः स्मरणं क्लेशा अविद्यादयः पञ्च ज्ञानजा हि संस्काराः स्मृतिहेतवः अविद्याजनिताः संस्कारा अविद्यादीनां पञ्चानां क्लेशानां हेतव इति भावः।

(३) अतीन्द्रियाश्चित्तधर्मा इति। निरोधधर्मादयः सप्त पञ्चदशसूत्रस्य भाष्ये परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्चोक्तास्त इत्यर्थः। एवं परकीयेषु संस्कारेषु संयमात्परेषां जातीनां ज्ञानमित्यपि बोध्यम्

न्वृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणादित्यर्थमाह ज्ञानभिक्षुः । ततस्तस्माच्चित्तात्परस्य चित्तस्याप्यशेषविशेषतो ज्ञानं संकल्पमात्रेण भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

यथा संस्कारसाक्षात्कारस्तदनुबन्धपूर्वजन्मसाक्षात्कारमाक्षिपत्येवं परचित्तस्य साक्षात्कारोपि तस्यालम्बनसाक्षात्कारमाक्षिपेदिति प्राप्त आह—

न च तत् सालम्बनं तस्याऽविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

जानातीति शेषः । तत् परचित्तं रागयुक्तं जानाति च पुनः सालम्बनमस्मिन् आलम्बने रागयुक्तमिति न जानाति तस्य सालम्बनपरचित्तस्याविषयीभूतत्वात् योगिचित्तेनेति शेषः । परचित्तस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमित्यर्थः । सानुबन्धसंस्कारविषयोऽसौ संयमः अयन्तु परचित्तमात्रविषय इति भावः ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् २१

शब्दादिपञ्चात्मकः कायः स च रूपवत्तया चाक्षुषो भवति तस्मिन् स्वकायस्य रूपे संयमात्साक्षात्कृते सति रूपस्य या ग्राह्या शक्तिः दृश्यताशक्तिः रूपवत्कायप्रत्यक्षताहेतुः तस्याः स्तम्भः(१)भावनावशात् प्रतिबन्धः तस्मिन् सति अन्तर्धानं योगिनः, ततश्च परचक्षुर्जनितेन प्रकाशेन ज्ञानेनासंप्रयोगश्चाक्षुषज्ञानाविषयत्वं योगिनः, कायस्येति यावत्, तस्मिन् कर्त्तव्येऽन्तर्धानं कारणमित्यर्थः । शब्दस्पर्शरसगन्धतद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे श्रोत्रत्वग्रसनाघ्राणप्रकाशासंप्रयोगे योगिनः शब्दादिकं न केनचित्प्रत्यक्षीक्रियते इति शब्दाद्यन्तर्धानबोधकं सूत्रमूहनीयम् ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥२२॥

यत् खल्वैकभविकं कर्म जात्यायुर्भोगहेतुस्तदायुर्विपाकं द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तच्च किञ्चित्कालानपेक्षमेव भोगदानाय प्रस्थितम् दत्तबहुलभोगमल्पावशिष्टफलं प्रवृत्तव्यापारं केवलं तत्फलस्य सहसा भोक्तुमकेन शरीरेणाशक्यत्वाद्विलम्बते तदिदं सोपक्रमम् उपक्रमेण व्यापारेण सहितमित्यर्थः । यथार्द्रवस्त्रं विस्तारितमाचिरेण कालेन शुष्येत यथाग्निः शुष्के तृणे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तोऽचिरेण कालेन दहेत्तथा सोपक्रमं कर्म । तदेव तु दत्तस्तोकफलं तत्कालमपेक्ष्य फलदानाय व्याप्रियमाणं कादाचित्कमन्दव्यापारं निरुपक्रमम्—यथार्द्रवस्त्रं पिण्डीकृतं चिरेण संशुष्येत् यथाग्निश्च तृणराश्यवयवे न्यस्तः क्रमेण चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमं कर्म । तदैकभविकं परान्तं महाप्रलयमपेक्ष्यापरान्तो मरणं तस्मिन् (उपक्रमे निरुपक्रमे च) कर्मणि धर्माधर्मरूपे संयमादपरान्तस्य मरणस्य ज्ञानं भवति ततश्च योगी सोपक्रममात्मनः कर्म विज्ञाय बहून् कायान्निर्माय सहसा फलं भुक्त्वा स्वेच्छया म्रियते । प्रासङ्गिकमाह अरिष्टेभ्योवेति । अरिवत्त्रासयन्तीत्यरिष्टानि त्रिविधानि मरणचिन्हानि तेभ्यो वाऽपरान्तज्ञानं भवति । त्रिविधान्यरिष्टानि आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राध्यात्मिकं स्वदेहे घोषं हस्ताभ्यां पिहितकर्णो न शृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यतीति । तथाधिभौतिकं यमपुरुषान् पश्यति पितॄनतीतानकस्मात्पश्यतीति । अधिदैविकं स्वर्गमकस्मात्सिद्धान् वा पश्यति विपरीतं (२)वा सर्वमिति । अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

मन्त्रादिषु बलानि ॥ २३ ॥

---

(१) स्तम्भ इति स्तम्भ्यते प्रतिबध्यते इति स्तम्भः । स्वकीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुःसंयोगयोग्यतां प्रतिबध्नातीति भावः ।

(२) विपरीतमिति । कृपणोपि वदान्यः स्याद्वदान्यः कृपणो यदि । प्रकृतेर्विकृतिर्यस्यास्तदा पञ्चत्वमृच्छतीत्यादीति ॥

मैत्र्यादिषु मैत्रीकरुणामुदितेति तिसृषु संयमा(१)द्बलानि मैत्र्यादिबलान्यवन्ध्यवीर्याणि भवन्ति-सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रबलं लभते एवं दुःखितेषु करुणां पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा तत्तद्बलं लभते इत्यर्थः। मैत्रीबलेन जीवलोकं सुखीकरोति ततः सर्वहितो भवति करुणाबलेन प्राणिनो दुःखात्तद्धेतो र्वा समुद्धरति मुदिताबलेन जीवलोकस्य माध्यस्थ्यमाधत्ते इति भावः। पापशीले तूपेक्षा अतो न समाधिरतस्तत्र संयमाभावादुपेक्षा (औदासिन्यं) ततो न बलमिति बोध्यम् ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलेषु हस्त्यादिबलेषु संयमाद्धस्तिबलादीनि भवन्ति येषां बले संयमः सिद्धस्तेषां बलं लभत इति भावः ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपिणी ज्योतिष्मती मनसः प्रवृत्तिस्तस्या य आलोकस्तत्कालीनः सत्त्वप्रकाशस्तस्य सूक्ष्मे व्यवहिते विप्रकृष्टे वाऽर्थे न्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानां ज्ञानं योगिनो भवतीत्यर्थः। तं प्रकाशं योगी तस्मिन्नेवार्थे संयमेन विन्यस्य साक्षात्करोति चक्षुर्न्यासमात्रेण घटदर्शनवद्बुद्धिसत्त्वप्रतिसन्धानमात्रेणैव सूक्ष्ममावृतं दूरवर्त्ति वस्तु साक्षात्करोतीति भावः ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

भुवनज्ञानं यादृशानि चतुर्दश भुवनानि तेषां यथास्थिति ज्ञानं सूर्ये संयमाद्भवति। तत्प्रस्तार-(विन्यास)माह भाष्ये-यथा सप्तलोकाः तत्रावीचेः (२)प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्य आ ध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः (भुवर्लोकः) तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः (महेन्द्रसम्बन्धी स्वर्गः) चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः त्रिविधो। ब्राह्मः(३) त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्ता दिवि तारा भुवि प्रजा इति ॥ तत्रा(४)वीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयः धनसलिलाऽनलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरव कालसूत्रान्धतामिस्राः। तत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः (दुःखभोगिनः) प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य (कष्टं दुःखफलमायुषा दीर्घं बहुकालं यावत् आक्षिप्य गृहीत्वा) जायन्ते। ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपाताला ख्यानि सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतः काञ्चनः तस्य (५)राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलद-

---

(१) संयमादिति। भावनातो यः समाधिः संयमो न केवलं भावनामात्रान्मैत्र्यादिबलानि किन्तु भवनोत्तरमैत्र्यादव्यवसायमादित्यर्थः। वीर्यं प्रयत्नः मैत्र्यादि बलवतःपुंसः परेषु सुखित्वादिषु कर्तव्येषु प्रयत्नोऽवन्ध्यो भवतीत्यर्थः।

(२) अवीचिर्नाम नरकविशेषो यतोऽधो नान्यो लोकोऽस्तीति।

(३) व्युत्क्रमेण सप्तलोकानां संग्रहश्लोकं पठति ब्राह्म इति। जनआदित्रिभूमिको ब्रह्मलोकः प्रथमो ब्रह्मणः सत्यलोकस्ततोऽधः तपोलोकस्ततोधः जनोलोक इति। भूमाः स्थानम्। ततो जनोलोकाधः प्राजापत्यो महान् महर्लोकः ततो माहेन्द्रः महेन्द्रसम्बन्धी स्वः स्वर्गलोकः यतोऽधो दिवि भुवलोके ताराग्रहनक्षत्रतारागणाः। ततोऽधो भुवि भूर्लोके प्रजा मनुष्या निवसन्तीत्यर्थः। पृथिव्या अधः स्थितानां षण्महानरकाणां भूर्लोकान्तर्गतयाह तत्रेति।

(४) एते षण्महानरका अनेकोपनरकपरिवृताः धनसलिलानलानिलाकाशतमांसि प्रतिष्ठा आधारा येषु तादृशाः घनादिभिः परिपूर्णा इति यावत्। घनशब्देन पार्थिवाः शिलाशर्करादयो गृह्यन्ते। ततोऽवीचेरुपरिष्टात् भूमिरियमष्टमीत्युक्त्या सर्वाध स्थितान्महातलादुपर्युपरि क्रमणे सप्त पातालानि सन्तीत्यवगन्तव्यम्।

(५) तस्य सुमेरोः यथाक्रमं पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरभागेषु शृङ्गाणि वर्तन्ते। कुरण्टकं स्वर्णवर्णः पुष्पविशेषः।

लश्यामो नभसो दक्षिणभागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः कुरण्टकाभ उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः (१)यतोऽयं जम्बूद्वीपः तस्य (२)सूर्यप्रचाराद्रात्रिंदिवं लग्नमिव विवर्त्तते । तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वताः द्विसहस्रायामाः तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि रमणकं हिरण्मयं उत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति । सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वामाल्यवत्सीमानः। प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः । मध्ये वर्षमिलावृतं तदेतद्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि तदर्धेन व्यूढम् । स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बूद्वीपः ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः। ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलमगधपुष्करद्वीपाः सप्त समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसाः इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः । सप्तसमुद्रवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः(३) तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डलमध्ये व्यूढम् । अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाऽऽकाशे खद्योतः । तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया (देवसमूहाः) असुरगन्धर्वकिन्नरकिंपुरुष यक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचाऽपस्मारकाऽप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मनो देवमनुष्याः । सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमिति उद्यानानि सुधर्मा देवसभा सुदर्शनं पुरम् वैजयन्तः प्रासादः । ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धाः वायुविक्षेप(व्यापार)नियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टानि वर्त्तन्ते । माहेन्द्रनिवासिनः षट् देवनिकायाः (देवयोनयः) त्रिदशाः अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिताः अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति सर्वे सङ्कल्पसिद्धाः(४)अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहाः(५) उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधा देवनिकायाः कुमुदाः ऋभवः प्रतर्दनाः अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति । एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः । प्रथमे ब्रह्मणो जनोलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति एते भूतेन्द्रियवशिनः । द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः अभास्वरा महाभास्वरा सत्यमहाभास्वरा इति । एते भूतेन्द्रियप्रकृति(६)वशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहाराः ऊर्ध्वरेतसः ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञानाः अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः । तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभा संज्ञासंज्ञिनश्चेति । अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठाः(७) । उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः । तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः ।

---

(१) अस्य सुमेरोर्दक्षिणपार्श्वे जम्बूनामा वृक्षः यतो नाम्ना जम्बूद्वीपः ।

(२) तस्य सुमेरोश्चतुर्दिक्षु तद्देशीयक्षितिजवृत्तात्मकनाडीवृत्तादूर्ध्वं षण्मासान् अधः षण्मासान् प्रचारात् भ्रमणात् । उदीचीनाः उत्तरस्यां दिशि स्थिमानाः । द्विसहस्रायामाः द्विसहस्रयोजनविस्ताराः तदन्तरेषु निषधादिपर्वतानामन्तरेषु मध्येषु । सुमेरोः पूर्वदिशि तत्संयुक्तो माल्यवान्नाम पर्वतः तं सीमानं कृत्वा समुद्रान्ता भद्राश्वनामानो देशाः ।

(३) तदेतत्सर्वं सप्तद्वीपविपिननगनगरनीरधिमालावलयं लोकालोकनामकपर्वतपरिवृतं विश्वम्भरामण्डल ब्रह्माण्डमध्ये व्यूढं संचितं सुप्रतिष्ठितम् ।

(४) सङ्कल्पसिद्धाः सङ्कल्पमात्रादेवैषां विषया उपनमन्तीत्यर्थः ।

(५) कामोपभोगिनो मैथुनप्रियाः औपपादिकदेहाः पित्रोः संयोगमन्तरेणाकस्मादेव दिव्यशरीरमेवा धर्मविशेषातिसंस्कृतेभ्योऽणुभ्यो भूतेभ्यो भवतीति ।

(६) प्रकृतिः पञ्चतन्मात्राणि प्रधानस्य पृथगुपादानात् । तद्वशिनस्तदिच्छातो हि तन्मात्राण्येव कायाकारेण परिणमन्ते ।

(७) स्वप्रतिष्ठः स्वस्मिन् शरीरे प्रतिष्ठा येषां ते तथोक्ताः, प्रधानवशिनः तदिच्छातः सत्त्वरजस्तमांसि प्रवर्त्तन्ते ।

सत्याभाः आनन्दमात्रध्यानसुखाः । शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः । संज्ञासंज्ञिनश्चास्मिता(१)मात्रध्यानसुखाः तेपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति । त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्ते न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतत् योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

व्यूहः सन्निवेशविशेषः ॥ २७ ॥

तारास्वरूपाणि ज्ञात्वैव तासां गतिज्ञानं भवतीति तत्साधनसूत्रमाह--

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

तासां ताराणां गतिज्ञानमित्यर्थः ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

कायव्यूहं कायस्य पदार्थानां वातपित्तश्लेष्मणां विन्यासविशेषं (२)जानातीत्यर्थः ॥२९॥

कण्ठकूपेषु क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

जिह्वाया अधस्तन्तुस्ततोऽधस्तात्कण्ठः ततोऽधस्तात्कूपः तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥३०॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूपादध उरसि कूर्माकारा कुण्डलितसर्पवदवस्थिता कूर्मनाडी हृत्पुण्डरीकाख्या तस्यां संयमात्स्थैर्यं स्थिरचित्तवृत्तिं लभत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिः (सुषुम्णाख्यं) तत्र संयमात्सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

प्रतिभा ऊहस्तद्भवं प्रातिभ (३)मनौपदेशिकं तत्प्रसंख्यानकारणम् अत एव तारकं (संसारतारणोपायः) प्रसंख्यानसान्निधापनेन संसारात्तारयति तस्मात्सर्वं जानातीत्यर्थः । पूर्वोक्तान् संयमान् विनापि प्रातिभज्ञानेन सर्वं पूर्वोक्तमतीतानागतादिसिद्धिपर्यन्तं योगी जानातीति भावः ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

दहरं सगर्त्तं पुण्डरीकाकारं ब्रह्मणो वेश्म अधोमुखं तत्र विज्ञानवृत्तिकमन्तःकरणं ब्रह्मणः सिंहासनकल्पं तत्र संयमात् चित्तसंवित् चित्तसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ताऽसंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतं तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा शुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः, तयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषः—प्रत्य-

---

(१) अस्मितामात्रध्यानेन ते तृप्यन्तीति अस्मितामात्रसुखाः ।

(२) विन्यासविशेषमिति । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः सन्ति धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि पूर्वपूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः ।

(३) प्रातिभमिति । तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपं यथोदये प्रभा भास्करस्य (यथा सूर्योदयस्य पूर्वलिङ्गप्रभा तद्वत्प्रसंख्यानस्य पूर्वलिङ्गप्रातिभज्ञानं) स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं प्रातिभमित्युच्यते इति बोध्यम् ।

याविवेकः अन्यत् बुद्धिसत्त्वमन्यः पुरुष इति ज्ञानस्य साक्षात्कारस्याविवेकाऽनिश्चयः अभेदनिश्चय इति यावत्, शान्तघोरमूढरूपाया बुद्धेश्चैतन्यबिम्बोद्ग्राहेण चैतन्यस्य शान्ताद्याकाराध्यारोपः चन्द्रमस इव स्वच्छसलिलप्रतिबिम्बितस्य तत्कम्पनात्कम्पनारोपो भोगः तस्य परार्थत्वात्(१)। यस्तु तस्माद्विशिष्टाश्चितिमात्ररूपोऽन्यो विवेकेन स्वार्थः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्साक्षात्कृते सति स्वयमेव पूर्णत्वाद्यविशेषविशेषैः पुरुषस्य साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। यद्यपि पौरुषेयः प्रत्ययः पुरुषादतिरिक्तो न भवति तथापि दृश्योपरागेण परिच्छिन्नांश एव प्रत्ययः श्रोत्रादिवत् ॥ ३५ ॥

स्वार्थसंयमेन न यावत्प्रधानं स्वकार्यं पुरुषज्ञानं निर्वर्त्तयति तस्य पुरस्तात्तावत्प्रातिभाद्या विभूतयो भवन्ति ताश्च तज्ज्ञानपारिपन्थिभ्योऽसंप्रज्ञातयोगविघ्नभूता एवेति प्रतिपादयितुमादौ ताः प्रदर्शयति—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वादवार्त्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ततः स्वार्थसंयमात्, तच्छब्देनात्र पुरुषज्ञानस्यैव परामर्शः चकाराद्यभावेन सिद्ध्यन्तराकाङ्क्षाविरहात् पुरुषज्ञानस्यैव मुख्यतयोपस्थितत्वेन परामर्शौचित्याच्चेति विज्ञानभिक्षुः। एतेन योगजधर्मानुगृहीतानां मनःश्रोत्रत्वग्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां यथासंख्यं प्रातिभज्ञानम्, तत्र मनसः सूक्ष्मपदार्थादिज्ञानसामर्थ्यस्य प्रातिभसंज्ञा श्रोत्रादीनां दिव्यशब्दश्रवणादिसामर्थ्यस्य श्रावणाद्यास्ताश्चित्रकयः संज्ञाः दिव्यशब्दाद्यपरोक्षहेतुभाव उक्तः। प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् श्रवणाद्दिव्यशब्दश्रवणम् वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् आस्वादाद्दिव्यरससंवित् वार्त्तातो दिव्यगन्धाधिगमः इत्येतानि व्युत्थानकालेपि नित्यं योगिनो जायन्ते ॥ ३६ ॥

समाधौ विघ्नरूपासु तासूपेक्षां कृत्वा पुरुषदर्शनाभ्यास एव कर्त्तव्य इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह -

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्य समाधिनिष्पत्त्यावसंप्रज्ञातरूपायामुत्पद्यमाना उपसर्गा अन्तराया विघ्नाः अतो व्युत्थानापेक्षयैवैते सिद्धयः पुरुषार्था इत्यर्थः। व्युत्थितचित्तो हि ताः सिद्धीरभिमन्यते योगिना समाहितचित्तेन तु उपलब्धाभ्योपि ताभ्यो विरमन्तव्यम्। अभिलषितदुःखत्रयात्यन्तिकनिवृत्तिरूपपरमपुरुषार्थकः खल्वयं कथं प्रत्यनीकास्वनुरज्येतेति भावः ॥ ३७ ॥

तदेवं ज्ञानरूपमैश्वर्यं पुरुषदर्शनान्तं संयमफलमुक्त्वा क्रियारूपमैश्वर्यं संयमफलमाह—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३८॥

विधीयत इति शेषः। चञ्चलस्वभावस्य अत एवैकत्राप्रतिष्ठस्य मनसो धर्माधर्मवशादेकस्मिन् शरीरे या प्रतिष्ठा (अवस्थितिः) सम्बन्धविशेषः स च बन्धः तस्य कारणस्य कर्मणः समाधिसामर्थ्यजातं शैथिल्यं दृढबन्धनाक्षमता तच्च बन्धकारणं यददृष्टं तद्विषयो यः संयमस्तद्बलाद्भवति तस्मात् अथ च प्रच-

---

(१) ननु बुद्धिसत्त्वमस्तु पुरुषभिन्नं भोगस्तु पुंसः कुतो भिद्यत इत्यत आह परार्थत्वादिति। स भोगरूपः प्रत्ययः सत्वस्य अतः परार्थत्वाद्दृश्यो भोगः सत्त्वं हि परार्थं संहत्यकारित्वात् (संहतत्वात्) तद्धर्मश्च भोग इति सोपि परार्थः यस्मै चासौ तस्य भोक्तुर्भोगः। अथवा अनुकूलप्रतिकूलवेदनीय सुखदुःखानुभवो भोगः। न चायं स्वात्मानमेवानुकूलयति प्रतिकूलयति वा स्वात्मनि वृत्तिविरोधादतोऽनुकूलनीयप्रतिकूलनीयार्थो भोगः भोक्ता आत्मा तस्य दृश्यो भोग इति। ननु चितिशक्त्या जडः प्रकाश्यते न जडेन चितिशक्तिः पुरुषप्रत्ययस्त्वचिदात्मा कथं चिदात्मानं प्रकाशयेत्। चिदात्मा त्वपराधीनप्रकाशो जडं प्रकाशयतीति युक्तमिति चेत्सत्यम्। बुद्धिसत्वगतपुरुषप्रतिबिम्बालम्बनात्पुरुषालम्बनं दर्पणवन्मुखालम्बनं न तु पुरुषप्रकाशनात्पुरुषालम्बनम्। बुद्धिसत्वमेव च तेन प्रत्ययेन संक्रान्तपुरुषप्रतिबिम्बं पुरुषच्छायापन्नं चैतन्यमालम्बत इति पुरुषार्थ इति भावः।

रत्यनेनास्मिन्निति प्रचारः(१) चित्तस्य गमनागमनाध्वानो नाड्यः तस्मिन् प्रचारे संयमात्तद्वेदनं गति साक्षात्कारः तस्माच्चित्तस्य परशरीरे आवेशो विधीयते योगिनेत्यर्थः । योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य परशरीरेषु निक्षिपति(२) निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्तीति भावः ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

समस्तानामन्तःकरणानां वृत्तिः जीवननाम्नी प्राणादिलक्षणाऽस्ति तस्याः क्रिया पञ्चतयी । तत्र प्राणो मुखनासिकागतिरानासिकाग्राद्वा च हृदयादवस्थिताः । समं नयनात्समानः अशितपीताहारपरिणतिभेदं रसं तत्र तत्र स्थाने समत्वरूपं नयति, अस्य चाहृदयादानाभिरवस्थितिः । मूत्रपुरीषगर्भादीनामपनयनहेतुरपानः अस्यानाभेः पादतलपर्यन्तं वृत्तिः । उत् ऊर्ध्वं नयनाद्रसादीनामूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोदानः अस्य च नासिकाग्राद्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वृत्तिः । समस्तदेहव्यापिवृत्तिको बलवत्कर्महेतुको व्यानः । एतेषां प्रधानः प्राणः 'प्राणमुत्क्रामन्तमनु सर्वे प्राणा उत्क्रामन्तीति' श्रुतेः । तथा च उदानजयात् उदाने कृतसंयमस्य तज्जयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गः तेषामुपरि संचरतो योगिनस्तैर्विकारहेतुसंयोगो न भवति प्रयाणकालेऽर्चिरादिमार्गेणोत्क्रान्तिरूर्ध्वगमनं च भवतीत्यर्थः । उदानवशित्वं विना नोर्ध्वगमनं भवति अत उदानजयी स्यादिति भावः ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

भवतीति शेषः । तेजसा शरीरस्योत्तजनं कृत्वा ज्वलतीत्यर्थः । तस्य समानस्य वायोर्वशीकरणेनाग्नेर्निरावरणत्वसम्पादनात्तेजसा ज्वलन्निव योगी प्रतिभातीति भावः । केचित्तु ज्वलतीत्यस्य सतीवत्स्वशरीरं दहतीत्यर्थमाहुः ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्राणां(३)शब्दज्ञानकरणानामिन्द्रियाणामाहङ्कारिकाणां(४) मप्याकाशं कर्णशष्कुली-

---

(१) अनया नाड्या एवं प्रकारेण चित्तं शरीरं प्रविशति निर्गच्छति चेत्यादि विशेषश्चित्तसाक्षात्कारः प्रचारसंवेदनमिति भावः ।

(२) निक्षिपतीति । विना प्रचारज्ञानेन अप्रतिबद्धमपि चित्तमुन्मार्गेण गच्छत् स्वशरीरादप्रत्यूहं निष्क्रामति न च परशरीरमाविशतीत्यर्थः । तस्मात्सत्प्रचारोऽपि ज्ञातव्य इति भावः । अनुपतन्तीति । यथा माक्षिका मधुकरराजमनुपतन्तमनुपतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुदधाति चित्तानुसारीणि तथाधिष्ठानं निविशन्त इति भावः ॥

(३) श्रोत्राणामिति । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रमिन्द्रियमित्यर्थः । क्रिया हि करणसाध्या दृश्यते यथा छिदिक्रियाद्दिसाध्या तथा शब्दग्रहणक्रियाऽपि करणसाध्या तस्यां यत्करणं तदेव श्रोत्रमिति, भावः । सर्वेषां श्रोत्राणामाहङ्कारिकाणां* कर्णशष्कुलीविवरावच्छिन्नमाकाशं प्रतिष्ठा आधारः तदाकाशस्योपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्योपकारापकारदर्शनाज्ज्ञायते । सर्वेषां श्रोत्रसहकारिणां शब्दानामप्याकाशं प्रतिष्ठा पार्थिवादिशब्दग्रहणे कर्तव्ये श्रोत्रं स्वसहकारिणं स्वाश्रयनभोगतासाधारणशब्दमपेक्षते यथा असाधारणगन्धादिगुणसहकारिभिर्घ्राणादिभिः पृथिव्यादिवर्तिबाह्यगन्धाद्यालोचने घ्राणमसाधारणगन्धादिगुणमपेक्षते । इन्द्रियाणि तु स्वसमानाधिकरणगुणसजातीयगुणं व्यञ्जयन्ति न तु स्वसमानाधिकरणसाधारणमिति नियमात् यतो न घ्राणादीनि स्वाश्रयगतासाधारणगन्धादीनि व्यञ्जयन्ति किन्तु व्यधिकरणगन्धादीनि घ्राणस्य च पार्थिवत्वेपि स्वसमानाधिकरणासाधारणगन्धसहकारादेव न

---

* इन्द्रियाण्याहङ्कारिकाणि न भौतिकानि तेषां प्रकाशात्मकतया प्रकाशात्मकान्तःकरणोपादानकत्वस्यैवौचित्याशंयनाह आहङ्कारिकाणमिति । एवमाहङ्कारिकमपि घ्राण रसनात्वक्चक्षुस्तत्तद्भूताधिष्ठानमेवास्ति तथैव दर्शनात् तत्तत्संसृष्टतया इन्द्रियोत्पत्त्या तत्तद्भूतेभ्य एव तत्तदिन्द्रियाणामभिव्यक्तेः ।

रसादिव्यञ्जकता सहकारिगुणस्य स्वसजातीयगुणव्यञ्जनकारकत्वनियमात् अन्यथा तस्य रसादीनामपि व्यञ्जकतापत्तेः एवमन्यत्रेन्द्रियेषु बोध्यम् । अत एव (स्वव्यधिकरणगुणव्यञ्जकत्वादेव) नाकाशीयशब्दप्रतीतिः, आकाशे श्रोत्रसमानाधिकरणसहकारिशब्दसजातीयान्यशब्दाभावात् तस्यैक्येन तत्तत्सहकारिशब्दानां तत्तच्छोत्रसामानाधिकरण्यात् । पार्थिवादिशब्दाश्च पृथिव्याद्यभिघातादुत्पन्नाः (तत्समवेतशब्दपरिणामेन वर्धमानाः) समवायेन पृथिव्यादावेव तिष्ठन्ति न त्वाकाशे तत्र च प्राप्तिसम्बन्धेन वर्त्तन्ते इत्याशयेनोक्तं वाचस्पत्ये सर्वशब्दानां चेति भाष्यस्य विवरणं शब्दानां च श्रोत्रसहकारिणामिति । वस्तुतस्तु समवायेन एक एव शब्द आकाश उपगम्यते बहुषु मानाभावात् कर्णसुषिरात्मोपाधिभेदादाकाशस्य भेदोपगमेन शब्दस्यापि भेदाङ्गीकारात्सर्वमिति विशेषणं बहुवचनं च ॥ तच्चेदं श्रोत्रमयःप्रतिममयस्कान्तमणिकल्पेन वक्तृवक्त्रस्थेन शब्देनाकृष्टं स्ववृत्त्या परंपरया वक्तृवक्त्रमागत शब्दमालोचयति अत एव स्वोद्भवदिग्देशयोः शब्दप्रतीतिः सर्वेषामसति बाधके नाप्रमाणीकृता भवति। दूरत्वादिबाधके सति तु वीचीतरङ्गवत्स्वदेशमपहाय देशान्तरमागतं शब्दमालोचयति तादृग्देशयोस्तस्य प्रतीतिरनुभवसिद्धा सर्वेषाम् । तथा चोक्तं पञ्चशिखाचार्येण–तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषामिति । अस्यार्थः–तुल्यमेको देशोऽधिष्ठानं येषां तानि तुल्यदेशानि तानि श्रवणानि येषां तथोक्तानाम् एकत्वमाकाशत्वेन तेन कर्णशष्कुल्यवच्छेदेन तेषां नानात्वेऽपि न क्षतिः । सर्वेषां श्रोत्राण्याकाशवर्त्तीनीति भावः । एकदेशश्रुतित्वम् एको देशः शब्दोद्भवदेशरूपाधिष्ठानं यस्याः, एकदेशा सा श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं श्रावणाख्यज्ञानं च येषां त एकदेशश्रुतयस्तेषां भावस्तत्त्वम्। पार्थिवादिशब्दानां ग्रहणे सर्वेषां जनानां श्रवणेन्द्रियाणि तत्तच्छब्ददेशं गत्वा तत्तच्छब्दमालोचयन्तीति फलितोऽर्थः । एतेन श्रोत्राधिष्ठानत्वमाकाशस्य शब्दगुणकत्वं च येन शब्देन सहकारिणा पार्थिवादान् शब्दान गृह्णातीत्युक्तं भवतीत्याशयेनाह भाष्ये तच्चेदमाकाशस्य लिङ्गमिति । तच्चेदमित्यस्य श्रोत्रं शब्दश्चाकाशस्य लिङ्गमनुमापकमित्यर्थः । सर्वेषामेकजातीयशब्दव्यञ्जकं (समानाकारशब्दव्यञ्जकं) श्रवणेन्द्रियं यदाश्रयं तदेवाकाशपदवाच्यम् न हि सूक्ष्ममपीन्द्रियमनाश्रयं स्थातुमर्हति गन्धवत्, नापि शून्यमाधारः अस्मिन् मतेऽभावानभ्युपगमात् अभावस्य भावाधिकरणत्वासम्भवाच्च । नापि कर्णविवरावच्छिन्नपुरुषादेराधारः विवरपिधानेऽपि तदवच्छेदेन चैतन्याद्यभिव्यक्त्या पुरुषादेरनावृततया शब्दग्रहणप्रसङ्गात् तस्मात् पिधानयोग्यमेकं द्रव्यं श्रोत्राधारतयाऽपेक्षितं तच्च परिशेषात्कर्णविवरावच्छिन्नं नभ एव श्रोत्रगोलकतया सिद्धमिति ॥ ननु कर्णविवरावच्छिन्नाः पृथिव्यादय एव श्रवणेन्द्रियाश्रया भवन्तु कथमाकाशसिद्धिरिति चेन्न। तदात्मकयोः श्रुतिशब्दयोः कर्तृकर्मविरोधेन स्वात्मनि व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वयोरनुपपत्तेः आकाशाश्रुतिर्व्यञ्जिका पार्थिवादिशब्दाश्च व्यङ्ग्या इत्येवं सम्भवति सति एकस्मिन् तद्द्वयोरन्याय्यत्वात् चतुर्णां मध्ये एकस्मिन् भूते विनिगमकाभावेन तदीन्द्रियाश्रयताभ्युपगमेऽनिश्चयापत्तेश्च । न च परस्परं शब्दप्रतीत्यर्थं तत्तद्भूताश्रितचतुःश्रोत्रेन्द्रियकल्पनमयुक्तं गौरवात् एकस्येन्द्रियस्यैकभूताधेयताया युक्तत्वाच्च, अन्यथा घ्राणरसनाचक्षुस्त्वचामपि चतुर्णां विनिगमनाविरहेणाश्रयभेदात्क्रमेणैकत्वाद्वित्वात्रित्वचतुष्ट्वापत्तेः। पृथिव्याश्रितो घ्राणः जलाश्रया रसना तेजआश्रयं चक्षुः वाय्वाश्रया त्वक् आकाशाश्रयं श्रोत्रम्। यो गन्धं व्यञ्जयति स घ्राणः तस्यान्यभूताश्रितत्वे उक्तयुक्त्या पृथिवीमात्राश्रितगन्धव्यञ्जकत्वानुपपत्त्या पृथिव्याश्रितत्वम् । तथा रसव्यञ्जकाया रसनायाः पृथिव्याश्रितत्वे सम्भवत्यपि न तत्त्वम् । एकभूतस्यैकेन्द्रियाधिकरणताया युक्तत्वाज्जलाश्रितत्वम् । एवं चक्षुस्त्वगाकाशेष्वपि बोध्यम् । तथाऽनावरणं च लिङ्गम् अनावरणमविद्यावदावरणविरुद्धोऽवकाशो न त्वावरणाभावः आवरणं तु परिच्छिन्नं मूर्त्तद्रव्यमसमानदेशमिति यावत् । यदि हि अवकाशरूपमाकाशं न स्यात्तदा मूर्त्तद्रव्येषु स्थाल्यादिष्वन्तस्तेजआदिप्रवेशो न भवेत् तथासति तण्डुलादौ तेजोऽसंयोगेन पाको न सम्भवेत् भवन्मते आवरणाभावस्यावकाशत्वाङ्गीकारेऽपि अभावस्य भावाश्रितत्वनियमेनाकाशसिद्धेः । यदेव तदभावस्याश्रयस्तदेवाकाशमिति फलितम् । यद्यप्यवकाश आकाशधर्मोऽस्ति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्भेदात् परं चास्मन्मते धर्मधर्मिणोरभेदाङ्गीकारादवकाशरूपमाकाशमि-

विवरमाधारः तयोः सम्बन्धे (१) कृतसंयमस्य योगिना दिव्यं तन्मात्रादिसूक्ष्मशब्दादिग्राहकश्रोत्रं तन्मात्रादिसूक्ष्मविषयसंयमनैरपेक्ष्येण स्वभावादेव तद्भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत्त्वग्वातयो श्चक्षुस्तेजसोरसनोदकयोर्नासिकापृथिव्योः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यत्वगाद्यप्यूहनीयम् ॥४१॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

चकारो विकल्पार्थः । यत्रासनादौ कायस्तिष्ठति तत्र शरीरावच्छेदेनाकाशमपि वर्त्तते तेनाकाशेन सह कायस्य प्राप्तिरूपो व्यापनसम्बन्धः आकाशस्यावकाशदातृत्वात् । तत्र सम्बन्धे संयमात्तत्सम्बन्धं साक्षात्कारेण स्वेच्छाधीनं कृत्वा एवं लघुषु तूलादिषु कृतसंयमात्समापत्तिं चेतसस्तत्स्थतदञ्जनतां लब्ध्वा लघुर्भवति लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति ततो यथेष्टमाकाशगमनं करोतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अपरमपि शरीरावेशहेतुं संयमं क्लेशकर्मविपाकक्षयहेतुमाह—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहानाम धारणा, सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण

ति कथनम् । यच्च दृश्यते शून्यं तदेवाकाशः अकाशो हि न दृश्यतेऽमूर्त्तत्वात् । तच्चान्तःकरणवद्वैशेषिकाणां पृथिव्यादिवच्च द्विविध कार्यकारणभेदात् । तत्र कारणाकाशं तमोगुणविशेषतयैव महाप्रलयेपि वर्त्तते गुणानां नित्यत्वात् तदानीमाकाशताव्यञ्जकशब्दादिविशेषगुणाभावेऽप्यवकाशधर्मस्य सत्त्वादिति बोध्यम् । तदेवं विभु समानदेशत्वात् तस्यैवावकाशो धर्मः कार्याकाशेपि व्यवह्रियते नित्यत्वात् गुणान्तरोपसंसृष्टकारणाकाशमंशतः सृष्ट्यादौ शब्दजननयोग्यार्थरूपेण परिणमते ततश्चाणुसङ्घातेन पृथिवीवदेव महाभूताकाशमहङ्कारापेक्षया परिच्छिन्नं (ब्रह्माण्डावच्छिन्नं तु व्यापकम्) उत्पद्यते तदेव कार्याकाशमुच्यते तथाच श्रुतिः 'एतस्माद्वात्मन आकाशः संभूतः, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' । आत्मन इति ल्यब्लोपे पञ्चमी आत्मानं परमात्मानमाश्रित्य आकाशः सम्भूत उत्पद्यते प्रकृतेरिति शेषः, तस्याः परिणामित्वात् उक्तं च श्रीभगवता—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमिति ॥

एतेन (निरुक्तश्रुतिस्मृतिबोधितार्थेन श्रोत्राश्रयत्वशब्दोपादानत्वोपपादनेन च) अनागतपुरुषार्थ एव प्रकृतीनां प्रवर्त्तक इति वदन्तः साङ्ख्याः अनादिध्वंसाप्रतियोगिमूर्त्ताभावात्मशून्यमाकाशमिति वदन्तो नैयायिकाश्चापास्ताः । सर्वमतेऽभावस्यानधिकरणत्वाकारणत्वयोर्नियमात् अन्यथा सर्ववस्तूनामभावमूलकत्वापत्तेः ॥ नापि पुरुषादिरवकाशः (आदिना महतत्वादिः) तस्य निरन्तरव्यापारवत्त्वेनावकाशत्वासम्भवात् अवकाशश्च सदा निर्व्यापारवान् भवति । चितिशक्तेरपि द्रष्टृत्वरूपव्यापारोस्ति सदा ज्ञानविषयत्वात् । नापि वायुः द्रव्यान्तरपूरिते वेण्वादौ वायुसंयोगेपि न शब्दः प्रसज्येत । न च छिद्रवायुसंयोगाभावेन न शब्दप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तथा सति संयोगाधारतयाऽवकाशरूपच्छिद्रस्य द्रव्यत्वसिद्धौ तस्यैव शब्दाश्रयत्वं युक्तं शब्दोत्पत्तावकाशस्यैवाधिक्येनोपयोगदर्शनं तस्मादावरणीयतयाऽऽकाशद्रव्यं सिद्धम् । न च चितिशक्तिस्तयो (शब्दश्रोत्रयोः)राश्रयो भवितुमर्हति निरवयवतयाऽपरिणामितया चाश्रयतोपादानत्वयोरसंभवात् । नापि दिक्कालादयः पृथिव्यादिद्रव्यमन्तरेण तेषामसत्वात्, तस्मान्नभ एव शब्दोपादानं श्रोत्राधिकरणं चेति ॥ ननु श्रोत्राधिष्ठानस्य शब्दावकाशोभयधर्मकस्याकाशस्य विभुत्वोपगमेन सर्वसमञ्जसं किं पुनः कारणाकाशाभ्युपगमेन गौरवादिति चेदुच्यते । तथोक्तयुक्त्या पिधानयोग्यतया आवश्यकतया चितिशक्तिवत्तस्य विभोर्निरवयवस्य तदसम्भवात् अस्मन्मते तस्य कार्याकाशस्याणुसमूहात्मकस्यात एव सावयवस्य परिच्छिन्नत्वेन तत्सम्भवादिति दिक् ॥

(४) आहंकारिकाणामहङ्कार एवाश्रयो युक्त इति व्यञ्जयत्यपि । पृ० ७० स्था टिप्पणी ।

(१) सम्बन्धे आधाराधेयभावरूपे इत्यर्थः ।

भवति तदा सा कल्पितेत्युच्यते या तु कल्पिता त्यक्तशरीरा सती बहिर्भूतस्यैव मनसो बाह्यवृत्तिः सा अकल्पिता महाविदेहेत्युच्यते अनयापि परशरीरावेशो लिङ्गशरीरस्य योगिनां भवति । किं परशरीरावेशमात्रमितो भवति नेत्याह तत इति । महाविदेहाख्यधारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मभ्यां विपाकत्रयं जात्यायुर्भोगाः तेषां क्षयो भवति यदेतत्त्रयं रजस्तमोमूलतया तदात्मकं सत् बुद्धिसत्त्वमावृणोति सत्त्वं तु न तथा विगलितरजस्तमसः सत्त्वमात्राद्विवेकख्यातिसमुत्पातात्तत्क्षयाच्च निरावरणं योगिचित्तं यथेच्छं विहरति जानाति चेति ॥ ४३ ॥

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चावच(अनेकविध)विषयकसंयमानां ज्ञानक्रियारूपाः सिद्धय उक्ताः । इदानीं वितर्कविचारेत्यादि सूत्रैः स्वशास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः । तत्र ग्रहीतृग्रहणयोर्ग्राह्यरूपत्वादादौ ग्राह्यविषयकसंयमसिद्धिमाह—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं चेति स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तत्तद्रूपाणां जयो वशवर्त्तिता भवतीत्यर्थः । सामान्यविशेषसमूहरूपाणां पृथिव्यादिपञ्चभूतानामेकदेशाः शब्दादयो विशेषाः वक्ष्यमाणैराकारादिभिर्धर्मैः सह स्थूलशब्देन शास्त्रे परिभाषिताः । तन्मात्रव्यावर्त्तनाय विशेषपदम् । ते च विशेषाः षड्जगान्धारादय आकाशीयाः शीतोष्णादयो वायवीयाः नीलपीतादयस्तैजसाः मधुराम्लादयः पाथसीयाः सुरभिगन्धादयः पार्थिवाः । एते हि नाम कर्मभिरवान्तरं विभज्यन्त इति विशेषाः । आकारादयश्च पृथिव्यादीनां धर्माः क्रमेण शास्त्रे पठिताः । यथा—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च ।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता ॥

इति पृथिव्याः ॥ आकारः (अवयवसंस्थानं) सामान्यविशेषो गोत्वादिः, वरणमावरणम्, वृत्तिः सर्वभूताधारता, भेदो विदारणम्, क्षमा सहिष्णुता ।

स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभाशौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् ।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्धानं चोदके गुणाः ॥

इत्यपाम् । रक्षा दुर्गादिद्वारा रक्षकत्वम्, सन्धानं विश्लिष्टानां मेलनम् ।

ऊर्ध्वभाक्पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम् ।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम् ॥

इति तेजसः ।

तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् ।
चलमच्छायतारौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥

इति वायोः । आक्षेपः पातनम् नोदनं कम्पनम् ।

सर्वतो गतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति च त्रयः ।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः ॥

इत्याकाशस्य धर्माः । सर्वतोगतिर्व्यापित्वम् ॥ द्वितीयरूपं स्वस्वसामान्यं स्वस्वजातिः पृथिवीत्वादिरित्यर्थः । तृतीयं सूक्ष्मं पञ्चतन्मात्रम् परमाणुस्तु एतदपेक्षया स्थूल एव यतः स तत्परिणामविशेषः सामान्यविशेषात्मा(१)अयुतसिद्धावयवभेदा(२)नुगतः समुदायो भूतस्यैकस्परमावयव इति ॥

---

(१) सामान्यविशेषात्मेति । सामान्यं मूर्त्तिः विशेषास्तद्गततत्तदवयवाः शब्दादयः ।

(२) अयुतसिद्धावयवेति । सङ्घातो द्विविधः युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च । तत्र युतसिद्धावयवः समूहो वनं सङ्घ इति युतसिद्धाः पृथक्सिद्धाः सान्तराला अवयवा यस्य तथोक्तः । अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति अयुतसिद्धा अपृथक्सिद्धा निरन्तराला अवयवाः सामा-

चतुर्थरूपमन्वयः ख्यातिक्रियास्थितिशीलास्त्रिविधा गुणाः यतः कार्यस्वभावानुपातिनोऽतो ऽन्वयशब्देनोक्ताः कार्यरूपो यः स्वीयो भावः कार्यात्मकः पदार्थस्तत्रानुगता अन्वया इत्यर्थः ॥ पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वम् अर्थः प्रयोजनम् गुणेषु सत्त्वादिषु वर्त्तमानं यद्भोगापवर्गजातं भोगविवेकख्यातिरूपं तदेव रूपमर्थवत्त्वाख्यमित्यर्थः । यद्यपि शब्दाद्युपलब्धिविवेकख्यात्याख्यौ भोगापवर्गौ पुरुषार्थौ चित्त एव वर्त्तेते तथापि प्रलयकालेऽनागतावस्थया वासनारूपेण गुणेष्वेव तयोरवस्थानात् । तन्मात्रभौतिकानामपि तदन्वयिगुणकार्यत्वेनार्थवत्त्वं तेषु तदानीमुत्पन्नेषु स्थूलभूतादिषु पञ्चरूपेषु च संयमाद् भूतजयः तस्य तस्य रूपस्य दर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति, तज्जयादस्य योगिनः संकल्पानुविधायिनो भूतस्वभावा भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

सङ्कल्पानुविधाने भूतानां किं योगिनः सिध्यतीत्यत आह —

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

ततो भूतानां सङ्कल्पानुविधानात् स्थूलसंयमजयादणिमाद्याश्चतस्रः सिद्धयो भवन्ति । तत्र स्वेच्छया यदणुपरिमाणशरीरो भवति तदणिमा सङ्कल्पमात्रेण तत्क्षणादेवापचयेन सौक्ष्म्यं देहस्य भवतीत्यर्थः १ । महानपि लघुर्भूत्वेषीकतूल इवाकाशे विहरतीति लघिमा २ । अल्पोऽपि नागनगनगरपरिमाणो भवतीति महिमा ३ । भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रमसं स्पृशति योगिनः सर्वे भावाः सन्निहिता भवन्ति अवयवोपचयनाद्गुरुदैर्घ्याद्वेति प्राप्तिः ४ । स्वरूपसंयमजयात्प्राकाम्यमिच्छानभिघातोऽबाधः नास्य योगिनो रूपं मूर्त्यादिभिर्भूतस्वरूपैरभिहन्यते यथा भूमावुन्मज्जति निमज्जति च जलमिव भूमिमुद्भिद्योत्तिष्ठति जलमिव भूमिं प्रविशतीत्यर्थः । ५ । सूक्ष्मविषयकसंयमजयाद्वशित्वम् तत्र भूतानि पृथिव्यादीनि तत्कार्याणि घटादीनि तेषु वशी स्वतन्त्रो भवति तत्कारणतन्मात्रपृथिव्यादिपरमाणु वशीकारः तेन यानि यथाऽवस्थापयति तानि तथैवावतिष्ठन्ते स्वेच्छया परिणामने समर्थो भवतीत्यर्थः ६ । अन्वयसंयमजयादीशितृत्वम् भूतानां मूलप्रकृतिविजयात्तेषां तन्मात्रद्वारकोत्पत्तिविनाशयोर्यथावदवस्थापनविशेषे च समर्थो भवतीति-७ । अर्थवत्त्वसंयमजयात्कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता विजितगुणार्थवत्त्वो हि योगी यदर्थतया सङ्कल्पयति तत्तस्मै प्रयोजनाय कल्पते विषमप्यमृतकार्ये सङ्कल्प्य भोजयन् जीवयतीति-८ । नन्वेवं योगी स्वेच्छया विपर्यासं करोतीत्येवं पदार्थविपर्यासमपि कस्मान्न करोति यथा चन्द्रमसमादित्यं जलमग्निमिति चेन्न । संयमैरपक्ष्यैणैव सत्यसङ्कल्पादिगुणशालिनो भगवतः परमेश्वरस्य कामावसायिनो यथादृष्टेषु भूतेषु तथैव संकल्पात् न खल्वेते तस्याज्ञामुत्क्रामितुमुत्सहन्ते आत्मनियमपालनार्थं नेश्वरेणान्तर्यामिणा पदार्थविपर्यासे योगिनः प्रेर्यन्ते पूर्वपूर्वयोगिव्यवहारानुसारेणैव योगी व्यवहरति अन्यथा तुल्यबलविरोधेन व्यवहारलोपसम्भवादिति भावः । शक्तयस्तु पदार्थानां जातिदेशकालावस्थाभेदेनानियतस्वभावा इति युज्यते तासु तदिच्छानुविधानमिति ॥ यद्यपि भाष्येऽणिमाद्यष्टसिद्धिषु गरिमा नोक्तः, तथापि सोऽवगन्तव्यो लघिमासाहचर्यात् अन्यत्र(१) तमादाय परिगणनात् सूत्रे तद्धर्मानभिघातश्चेत्युक्त्याऽष्टसिद्धिषु कामावसायित्वस्याविवक्षितत्वाच्च । भाष्यकारमते स्थूलादिपञ्चरूपाणां मध्ये प्रत्येकजयस्यैतत्सूत्रोपनिबद्धस्य समस्तविषयकसंयमफलत्वस्य बोधनाय

न्यविशेषा वलास्नायुहस्तपादादयः शाखादयो वा यस्य तथोक्तः, तेषामवयवानां तद्देशेष्वनुगतोऽनुप्राप्त इत्यर्थः । भूतस्येति । गवादेरित्यर्थः । यथा पृथिव्यादेस्तन्मात्रमवयवस्तथा गवादेः परमाणुरवयव इति भावः । वाचस्पत्योक्त्या तु परमाणुरपि सूक्ष्ममिति ।

(१) अन्यत्रेति कोषादौ । यथा—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥ इति । अणोर्भावोऽणिमेत्येवं बोध्यम् ।

तद्धर्मानभिघात(१)श्चेति पुनरुपादानमिति न पुनरुक्तिदोष इति भावः ॥ ४५ ॥

कायसंपदमाह—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूपलावण्यं दर्शनीयकान्तिः, बलमतिशयबलम् , वज्रसंहननत्वं वज्रस्येव संहननमवयवव्यूहो दृढो निबिडो यस्य संहननं प्रहारो वा यस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वम् ॥ ४६ ॥

जितभूतस्य योगिन इन्द्रियजयोपायमाह—

ग्रहणस्वरूपाऽस्मितान्वयार्थवत्त्वस्य संयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहणं च स्वरूपं चास्मिता चान्वयश्चार्थवत्त्वं च तेषु संयमात्तत्तद्रूपाणामिन्द्रियाणां जयो भवतीत्यर्थः । ग्रहणं गृहीतिः सामान्यविशेषात्मानः शब्दादयो ग्राह्यास्तेषु इन्द्रियाणां वृत्तिरालोचनं विषयाकारपरिणतविशेष(२)इति यावत् न तु सामान्यमात्रगोचरा इन्द्रियवृत्तिर्ग्रहणम् । कथमनालुचितो विषयविशेषो मनसाऽनुव्यवसीयेतेति, तस्मात्सामान्यविशेषविषय इन्द्रियपरिणामो ग्रहणमिन्द्रियाणां प्रथमं रूपम् । द्वितीयरूपमाह स्वरूपमिति । प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य कार्यभूता ये अयुतसिद्धा अवयवभेदाः सात्त्विकाहङ्काररूपास्तेष्वनुगतो यः सामान्यविशेषयोः श्रोत्रत्वादिशब्दाद्याकारपरिणामभेदयोः समूहो द्रव्यमिन्द्रियमित्यर्थः । सामान्यं श्रोत्रत्वादीविशेषा शब्दाद्याकारपरिणामा इति सामान्यप्राधान्येनैव स्वरूपमत्र विवक्षितम् न तु केवलं सामान्यं तदिति बोध्यम् ॥ तेषां तृतीयरूपमस्मितारूपवृत्तिकोऽहङ्कारः यथा तन्मात्रस्य सामान्यस्य भूतानि विशेषास्तथाऽहंकारस्य सामान्यस्य श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि विशेषाः कार्यत्वात् अत इन्द्रियेष्वनुगततयाऽहङ्कार इन्द्रियाणां रूप भूतानां तन्मात्रवदिति भावः ॥ चतुर्थं रूपं तेषामन्वयः व्यवसायापरपर्यायमहत्तत्त्वरूपेण परिणताः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणास्तेषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामाः । व्यवसायात्मकत्वं(३)तु ग्राह्यत्वमास्थाय पञ्चतन्मात्राणि भूतभौतिकानि चेति भावः । एतेन पूर्वोक्तभूतजयसूत्रेऽप्यन्वयाख्यचतुर्थरूपमध्ये महदहंकारयोः प्रवेशो युक्तिसाम्यादित्यूहनीयम् । पञ्चमरूपमर्थवत्त्वम् इन्द्रियप्रकृतिगुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वं तदित्यर्थः । पञ्चस्वतेषु इन्द्रियरूपेषु ग्रहणादिक्रमेण संयमेन जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति सङ्कल्पानुविधायिन्य इन्द्रियप्रकृतयो भवन्तीति भावः ॥ ४७ ॥

पञ्चरूपेन्द्रियजयात्सिद्धीराह—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

तत इन्द्रियजयात् मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरक्रियावत्त्वम् मनोवदनेकयोजनान्तरितमपि देशं झटित्येन गच्छतीति भावः । विकरणभावः विदेहानां स्थूलदेहसंपर्करहितानामिन्द्रियाणां करणभावः करणसामान्यभावस्तेषामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविषयापेक्षस्तदपरित्यागी वृत्तिलाभः यत्रैव देशादिषु प्रत्ययलाभ इष्यते तत्रैव स भवतीत्यर्थः । तथाच विकरणभावशब्देन विकीर्णतास्वभाव(४) उच्यते । प्रधा-

---

(१) तद्धर्मानभिघात इति । तत्तेषां स्थूलभूतानां ये धर्माः काठिन्यादयः तैरनभिघातोऽबाधो भवतीत्यर्थः न हि पृथिवी योगिनः शरीरक्रियां मूर्त्या निरुणद्धि शिलामप्यनुप्रविशतीति । नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति नाग्निरुष्णो दहति न वायुः प्रणामी वहति अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवतीति ।

(२) विशेष इति । चिन्तावधारणाभिमानसंशयरूपान्तःकरणान्तानामसाधारणवृत्तिचतुष्काद्विलक्षणो दर्शनस्पर्शननामेति ।

(३) व्यवसायात्मकत्वम् विषयाविषयिभावेन परिणामवत्त्वं तत्त्वं गुणानामिति भावः ।

(४) विकीर्णतास्वभावः व्यापितास्वभावः य एवंविधा योगिनस्त एव विदेहा उच्यन्ते इति भावः ।

नजयः (१)सान्वयेन्द्रियजयात्सर्वान् प्रति विकारान् वशित्वं स्वेच्छयानुविधानमित्यर्थः । ता एताः सिद्धयो योगशास्त्रनिष्णातैर्मधुप्रतीका उच्यन्ते । एतेनेन्द्रियाणां ग्रहणादीनि पञ्च रूपाणि तेषां जयादेवैताः सिद्धयो न त्विन्द्रियमात्रजयादेता भवन्तीत्युक्तं भवति ॥ ४८ ॥

तदेवं ग्राह्यग्रहणसंयमयोः विभूतीरुक्त्वा ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिमाह—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

निर्धूतरजस्तमोमलतया बुद्धिसत्त्वस्य वैशद्यं परमस्वच्छता अतिसूक्ष्मवस्तुप्रतिबिम्बोद्ग्रहणसामर्थ्यं तस्मात्परा वशीकारसंज्ञा (परमाणुपरममहत्त्वान्ता) तत्र वर्त्तमानस्य वशिनो योगिनः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपेण प्रतिष्ठस्य संयमेन कृतसाक्षात्कारस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं स्वदेह इव स्वेच्छया सर्वभावानां विनियोक्तृत्वम् यतः सर्वात्मनो व्यवसायव्यवसेयात्मका(२)गुणाः अतोऽशेषदृश्यात्मत्वेन योगिसङ्कल्पितभोग्यवस्त्वाकारेण परिणताः सन्तः स्वामिनं पुरुषं प्रति उपतिष्ठन्ते उपस्थिता भवन्तीत्यर्थः । तदनेन क्रियैश्वर्यमुक्त्वा ज्ञानैश्वर्यमाह सर्वज्ञातृत्वं चेति । सर्वात्मनां सर्वपुरुषाणां बद्धमुक्तेश्वराणां शान्तोदिताऽव्यपदेशधर्मत्वेन(३) व्यवस्थितानां गुणानां चैकदैव ज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम् । तच्च विवेकजमुच्यते एषा विशोका नाम सिद्धिर्वैराग्याय भवतीति यां प्राप्य योगी क्षीणक्लेशबन्धनो (४)वशी विहरतीति ॥४९॥

संयमान्तराणां पुरुषार्थाभासफलकत्वाद्विवेकख्यातिसंयमस्य पुरुषार्थतां दर्शयितुं विवेकख्यातेः परवैराग्योपजननद्वारेण कैवल्यं फलमाह—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

अपिशब्दो भिन्नक्रमः कैवल्यमित्यनेनान्वेति । न केवलं विवेकख्यातेः सर्वभावाधिष्ठातृत्वाद्येव भवति, किन्तर्हि ? तद्वैराग्यात् (संयमान्तरवैराग्यात्) असंप्रज्ञातसमाधिलाभे सति कैवल्यमपि पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः फलं भवतीत्यर्थः । तथाच तद्वैराग्याद्विवेकख्यातिसंयमादेव विवेकख्यातौ तस्या यथोक्तसिद्धौ च तज्जन्यवैराग्ये सति दोषबीजक्षयेऽसंप्रज्ञातयोगेन दुःखदोषस्य बीजानामखिलवासनाकर्मणां क्षये चित्तेन सह लये सति कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्गुणानामसंयोग इति परमार्थः । अयं भावः । यदास्य योगिनः क्लेशकर्मक्षये सत्येवं विचारो भवति सत्त्वस्यायं विवेकज्ञानं धर्मः (स्वभावः) सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धः सत्त्वादन्य इति तदा वैराग्यमुपजायते । एवं ततो विवेकतो विरज्यमानस्य तस्य यानि क्लेशबीजान्यखिलवासनाकर्माणि दग्धशालिबीजकल्पानि प्रसवासमर्थानि तानि सह मनसा लयं गच्छन्ति तेषु लीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते अविवेकदशायां क्लेशकर्मविपाकस्वरूपेण मनस्यभिव्यक्तानां गुणानां तत्त्वश्चाद्विवेकख्यात्युपजननेन पुरुषार्थतासमाप्तेस्तदा कैवल्यं पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

संप्रति कैवल्यसाधने प्रवृत्तस्य योगिनः प्रत्यूह(विघ्न)सम्भवे तन्निराकरणकारणमुपदिशति—

स्थान्युपानमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानानि स्वर्गलोकादीनि एषां सन्तीति स्थानिनो महेन्द्रादयः तैरुपनिमन्त्रणं प्रार्थनापूर्वकनिमन्त्रणं स्वर्लोकाद्यनुत्तमसुखभोगार्थनयनाय योगिनं प्रति क्रियमाणं प्रार्थनापूर्वकं प्रवर्त्तनं तस्मिन् सति सङ्गस्य विषयप्रीतेः स्मयस्य देवानां प्रार्थनेनात्मनि कृतार्थाभिमानस्य चाकरणम् सङ्गः स्मयश्च न कर्त्तव्यो योगिभिरित्यर्थः । तत्र हेतुमाह पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति । 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा' इत्यादिभ-

---

(१) प्रधानजयिनस्तु प्रकृतिलया उच्यन्ते प्रकृत्या सहैकतां गता इति तदर्थः ।

(२) जडप्रकाशरूपा इत्यर्थः ।

(३) शान्तोदितेति । अतीतानागतवर्त्तमानवस्तुरूपेण परिणतानां गुणानां युगपदुत्पन्नं विवेकजज्ञानं यथार्थसाक्षात्कारो भवतीति भावः ॥

(४) बन्धनानि शुभाऽशुभकर्माणि ।

गवद्गीतोक्तेः। तत्र यस्यां भूमिकायां वर्त्तमानस्य योगिनः स्थान्युपनिमन्त्रणं भवति तमेकं योगिनं निर्धारयितुं यावन्तो योगिनः सम्भवन्ति तावत एवाह भाष्ये चत्वार इत्यादि। तत्राभ्यासी प्रथमकाल्पिकः प्रवृत्तमात्रज्योतिः, न तु वशीकृतज्योतिः, पराचित्तादिविषयकं ज्ञानं यस्य स तथा भवति सवितर्कादिरूपापरप्रत्यक्षवानिति । मधुभूमिकः (मधुप्रतीकभूमिः) ऋतंभरप्रज्ञो द्वितीयः ऋतं सत्यं बिभर्त्ति इति ऋतम्भरा प्रज्ञाऽत्र विवक्षिता सा। च निर्वितर्कभूमिकैव सा प्रज्ञा यस्य स तथा भवति स हि भूतेन्द्रियाणि जिगीषुः॥ प्रज्ञाज्योतिर्भूतेन्द्रियजयी तृतीयः ३ स्थूलादिसंयमेन भूतजयी गुणादिसंयमेन चेन्द्रियजयी अत एव सर्वेषु निष्पादितेषु पराचित्तादिज्ञानादिषु कृतरक्षाबन्धः यतस्तेभ्यो न च्यवते एवं निष्पादनीयेषु विशोकादिसिध्यादिषु परवैराग्यपर्यन्तेषु कर्त्तव्यसाधनवांश्च । अतिक्रान्त (निष्पन्न-जित)भावनीयश्चतुर्थः। ४ तस्य हि भगवतो जीवन्मुक्तस्यासंप्रज्ञातसमाधिना चित्तावलयमात्रमेकोऽर्थः कर्तव्योऽवशिष्यते । तथा चैतेषु योगिषु मधुमतीं भूमिं प्राप्तवतो द्वितीयस्य योगिनो देवः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्वर्गोपलक्षितैर्विमानाप्सरःकल्पद्रुमादिभिः(१) प्रलोभ्य स्वाभीष्टकर्तव्यकरणाय प्रार्थयन्ते । प्रथमकल्पिके तु तावन्महेन्द्रादीनामेतादृशानुग्रह एव न भवति । तृतीयोपि तैर्नोपिनिमन्त्र्यते भूतेन्द्रियवशित्वेनैव तत्प्राप्त्या तेषां तेनोपेक्षणात् । चतुर्थोपि परवैराग्यसंपत्तेः सङ्गस्मयाऽसङ्गाद्दूरोत्सारित एव इति परिशेष्याद्द्वितीय एव तदुपनिमन्त्रणविषय इति । उपनिमन्त्रणप्रकारमाह भाष्ये(२)भोरिहास्यतामिह रम्यतामित्यादि । सङ्गदोषभावनाप्रकारमाह—घोरेष्वित्यादि । (३)एतेन सङ्गस्मयौ त्यक्त्वा समाधिं कुर्वतो योगिनो भावितोऽर्थो दृढीभविष्यति भावनीयश्चार्थोऽभिमुखीभविष्यतीत्युपदिष्टं भवतीति ॥ ५१ ॥

क्वचित्क्वचित्संयमात्सर्वज्ञता उक्ता सा च न निःशेषज्ञता अपितु प्रकारमात्रविवक्षया यथा सर्वैर्व्यञ्जनैर्भुक्तमिति अस्ति च निःशेषवचनः सर्वशब्दः यथोपनीतमप्यन्नं सर्वमशितं प्राशकेनेति अत्र निःशेषमशनमिति गम्यते तदिह निःशेषज्ञतालक्षणस्य विवेकजविवेककज्ञानस्य साधनं संयममाह—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

यथा लोष्ठस्य हि प्रभज्यमानस्य यस्मिन्नवयवेऽल्पत्वतारतम्यं व्यवतिष्ठते सोऽपकर्षपर्यन्तः परमाणुस्तथापकर्षपर्यन्तः काल क्षणः पूर्वापरभागविकलकालकलेति यावत् । क्रमस्तु क्षणप्रवाहाविच्छेदः क्षणानां यः प्रवाहः उत्तरोत्तरभावेनावस्थानं तस्य योऽविच्छेदोऽविरलता नैरन्तर्यं वा स क्रम इत्यर्थः । तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्साक्षात्करणेन विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवतीत्यर्थः) प्रतिक्षणं सर्वं वस्तु परिणमते अतः क्षणेषु तत्क्रमेषु च संयमेन साक्षात्कारे सति सर्ववस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्वस्य वस्तुनो विवेकजं ज्ञानं भवतीति भावः ॥ ५२ ॥

---

(१) कल्पद्रुमादिभिः अमी कल्पद्रुमास्त्वद्भोगार्थमुपस्थिताः इयं मन्दाकिनी त्वदवगाहार्थमुपस्थिता अनुत्तमा अनुकूला अप्सरसस्त्वद्भोगार्थमुपस्थिता दिव्ये श्रोत्रे चक्षुषी भवतो भविष्यत इत्यर्थः । यद्वा अमी इत्यारभ्योपार्जितामित्यन्तमेकं वाक्यम् ॥

(२) भोरिहास्यतामिति । यथा भोरिहास्यतामिह रम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते वैहायसं आकाशगामि यानम् अमी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षयः अनुत्तमा अनुकूला अप्सरसः दिव्ये श्रोत्रे चक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमुपार्जितमायुष्मता (भवता) प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति ॥

(३) सङ्गदोषभावनाप्रकारमाह तत्रैव यथा एवमभिधीयमानः (देवैरिति शेषः) सङ्गदोषान् भावयेत् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः (संपादितः) क्लेशतिमिरनाशी योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः (शत्रवः) स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेदिति।

यद्यप्येतद्विवेकजं ज्ञानं निःशेषभावविषयमित्यग्रे वक्ष्यते तथाप्यातिसूक्ष्मत्वात्प्रथमं तस्य विषय शेष उपाक्षिप्यते—

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

जात्यादिभिस्तुल्ययोर्वस्तुनोर्जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदाद्भेदावधारणस्यासम्भवात्तत्र प्रतिपत्तिः भेदस्य पौरुषेयः साक्षात्कारः ततो विवेकजज्ञानादेव भवतीत्यर्थः । देशलक्षणसारूप्ये तुल्ययोर्जातिभेदोऽन्यताहेतुः यथा समानदेशस्थयोः समानवर्णयोर्गोवड़वयोर्देशलक्षणसारूप्ये सति भेदप्रतीतेर्गोत्वादिजातिभेदो हेतुः । द्वयास्तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणभेदोऽन्यताहेतुः यथा कालाचीस्वस्तिमत्योर्लक्षणभेदः तुल्यश्च देशः पूर्वत्वादिः तुल्या च जातिर्गोत्वमिति द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्ये देशभेदोऽन्यताहेतुः तुल्या आमलकत्वजातिः वर्तुलादिलक्षणं च तुल्यमिदं पूर्वमिदमुत्तरमिति देशः । ययोस्तु परमाण्वायोर्जात्यादिभिः कथमप्यन्यताप्रत्यक्षं न सम्भवति तयोस्तादृशविवेकजननात्परस्परभेदसाक्षात्कारो योगिनो भवति । वैशेषिकमते च योऽन्त्यो विशेषः सोऽन्यताप्रत्ययं करोति परञ्च तज्ज्ञानमपि विवेक ज्ञानमन्तरा न सम्भवतीति भावः ॥ ५३ ॥

तदेवं विवेकजज्ञानस्य विषयैकदेशं प्रदर्श्य तज्ज्ञानं लक्षयति—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

इति शब्दो हेत्वर्थे । विवेकजं ज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयं नास्य क्वचित्कथंचित्कदाचित्किञ्चिदप्यविषयीभूतं सर्वथाविषयं सर्वथा निःशेषैर्विषयीकरोति अतीतानागतवर्त्तमानं सर्वमवान्तरविशेषैर्निःशेषैर्जानातीति यावत्—इति प्रातिभाद्वा सर्वमिति सूत्राद्विशेषः । अक्रमं न क्रमः पौर्वापर्यं यत्र तत एकक्षणोपारूढं (उपलब्धं) सर्वं सर्वथा जानातीत्यर्थः । अत एव एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णं तारकं संसारात्तारयतीत्यर्थः । अस्यैवांशः संप्रज्ञातापि तारकः ऋतंभरा प्रज्ञैव मधुमोदकत्वात् (मादकारकत्वात्) तद्वर्ती भूमि प्राप्तस्य मधुभूमिकस्य योगिनो मधुमती भूमिमादाय संप्रज्ञातसमाप्तिपर्यन्तं सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा भवति यतः स विवेकजज्ञानविषयैकदेशप्रकाशकः अतोंऽश इति तदंशत्वातस्य तारकत्वमिति भावः ॥ ५४ ॥

तदेवं परंपरया कैवल्यस्य हेतून् सविभूतिकान् संयमानुक्त्वा सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानं साक्षात्कैवल्यप्रसाधनमिति सूत्रयति—

सत्त्वपुरुषोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

प्राप्तविवेकज्ञानस्याप्राप्तविवेकज्ञानस्य वा सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमित्यन्वयः । यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषान्यताख्यातिमात्राधिकारं (कर्त्तव्यं) न तु स सिद्ध्यधिकारं तथा दग्धानागतक्लेशरूपविपाकाख्यसंसारबीजं भवति तदा पुरुषस्य सारूप्यमिवापन्नं तत्सत्त्वं शुद्धम् । यदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः (अविवेकदशायां पुरुषे बुद्धिधर्मोऽपि भोग उपचर्यते विवेकदशायां यदा तूपचर्यमाणस्यापि भोगस्य पुरुषेऽभावो भवति) तदा पुरुषः शुद्ध इत्युच्यते इत्युभयोः शुद्धिसाम्यदशायां कैवल्यं पुरुषस्येत्यर्थः । विवेकजं ज्ञानं भवतु मा भवतु वा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिस्तु कैवल्यप्रयोजिका यतस्तत्ख्यातितोऽज्ञानं निवर्त्तते तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः तस्यामवस्थायां कृतकृत्या गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते तत्पुरुषस्य कैवल्यं स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवतीति परमार्थः । पादसमाप्त्यर्थ इतिरिति ॥ ५५ ॥

अत्रान्तरङ्गान्यङ्गानि परिणामाः प्रपञ्चिताः ।
संयमाद्भूतिसंप्राप्तिः सङ्गाद्यकरणं तथा ॥ १ ॥
ज्ञानं विवेकजं चान्ते सत्त्वस्य पुरुषस्य च ।
शुद्धिसाम्ये तु कैवल्यं मध्येऽन्यच्चोपवर्णितम ॥ २ ॥

इति श्रीबलदेवमिश्रकृतायां पातञ्जलसूत्रव्याख्यायां योगप्रदीपिकायां विभूतिनिर्देशो नाम तृतीयः पादः॥३॥

विभूतिपादः समाप्तः ॥

तदेवं प्रथमद्वितीयतृतीयपादैः समाधितत्साधनतद्विभूतयः(१)प्राधान्येन व्युत्पादिताः, इतरत्तु प्रासङ्गिकमौपोद्घातिकं (२)चोक्तम् —इदानीं तद्धेतुकं कैवल्यं व्युत्पादनीयं तच्च कैवल्यं कैवल्यभागीयं (भोग्यं) चित्तं विना न व्युत्पाद्य वक्तुं शक्यम्, तथा परलोकं च पारलौकिकं विज्ञानातिरिक्तं चित्तकरणकसुखाद्यात्मकशब्दाद्युपभोक्तारमात्मानं च प्रसंख्यानपरमकाष्ठां च विना व्युत्पाद्य शक्यं वक्तुमिति तदेतत्सर्वमत्र पादे व्युत्पादनीयम् इतरच्च (पूर्वजन्मसद्भावचित्तपरीक्षादि प्रसङ्गादुपोद्घाताद्वा। तत्र प्रथमं सिद्धचित्तेषु कैवल्यभागीयं चित्तं निर्धारयितुकामः पञ्चतयीं सिद्धिमाह—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

स्वर्गोपभोगभागीयात्कर्मणो मनुष्यजातीयाचरितादैहिकात्कुतश्चिन्निमित्ताल्लब्धपरिपाकात्क्वचिद्देवादिनिकाये (योनौ) जातस्य तस्यैव दिव्यदेहान्तरिताऽणिमाद्या सिद्धिर्भवतीति जन्मजा सिद्धिः । यदोषधिद्रव्यं रसायनं (जरामृत्युविनाशनं) तदुद्भवा सिद्धिरोषधिजा यथा माण्डव्यो मुनिः रसायनोपयोगेन विन्ध्यवासीति । मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभो मन्त्रजा सिद्धिः । तपसा(३)सङ्कल्पसिद्धिः कामरूपीति यत्र कामयते श्रोतुं वा गन्तुं द्रष्टुं मन्तुं वा तत्र तदेव शृणोति गच्छति चेत्यादि बोध्यम् । समाधिजाः सिद्धयो विभूतिपादे व्याख्याताः ॥ १ ॥

अथ चतसृषु सिद्धिष्वोषधादिसाधनासु पूर्वोपचितानां(४)मेव कायेन्द्रियाणां जात्यन्तरपरिणतिरिष्यते स न पुनस्तावदुपादानमात्राद्भवति नहि तावन्मात्रमुपादानं कार्यवैलक्षण्यस्य न्यूनाधिकदिव्यादिव्यभावे भवति न खल्वविलक्षणं कारणं कार्यवैलक्षण्याय समर्थमिति कारणवैलक्षण्यं विना कार्यवैलक्षण्यस्याकस्मिकत्वं (निर्हेतुकत्वं) माभूदित्याशङ्कां पूरयित्वा सूत्रयति –

(तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानां जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

अत्र जात्यन्तरादिसूत्रमिति वार्त्तिकक्रमः । वाचस्पतिस्तु तत्रेत्याद्येव सूत्रं मेने । तत्र सिद्धौ सत्यां मनुष्यजातीयपरिणतानां कायेन्द्रियाणां यो देवतिर्यग्जातिपरिणामः स खलु प्रकृत्याऽऽपूरात् कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता (महदहङ्कारौ) तदवयवानामपूर्वाणामनुप्रवेशे (अल्पोभावो महतीभावश्च) आपूरः तस्माद्भवतीत्यर्थः । परिणामान्तरसमये कायेन्द्रियप्रकृतयोऽनुप्रवेशेन स्वं स्वं पूर्वभूतावयवविकारमपगम्यापूर्वावयवविकार (अपूर्वपरिणाम) मनुगृह्णन्तीति भावः । ततः परिणामानुग्रहे धर्मादि निमित्तमतो न स परिणामः सदातन इत्यप्यग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ २ ॥

प्रकृत्यापूरादित्युक्ते इदं संदिह्यते किमनुप्रवेशः प्रकृतीनां स्वाभाविको धर्मादिनिमित्तो वेति । किं प्राप्तं(५) सतीष्वपि प्रकृतिषु कदाचिदापूराद्धर्मादिनिमित्तश्रवणाच्च तन्निमित्त एवेति प्राप्तमेवं प्राप्ते आह—

---

(१) तद्विभूतय इति । तत्र काश्चिदतीतानागतज्ञानादिसिद्धयः श्रद्धाद्वारा योगस्याङ्गम् इन्द्रियजयादिः साक्षादङ्गम् तारकसाङ्ख्यविवेकज्ञानसिद्धिस्तत्फलमिति बोध्यम् । प्रासङ्गिकं परमाणुपुञ्ज जगदिति क्षणिकमतादिनिराकरणादि । तद्धेतुकं स समाधिहतुर्यस्य तदित्यर्थः ॥

(२) औपोद्घातिकम् प्रकृतशास्त्रप्रतिपाद्योपयोगिविचार उपोद्घातस्तस्मादागतम् ।

(३) तपसेति। यथा विश्वामित्रादीनाम् एताश्चतस्रः सिद्धयः पूर्वजन्माभ्यस्तयोगजा एव जन्मादिनिमित्तेन व्यज्यन्ते, अत एव योगाभ्यासे विश्वासेन प्रवृत्तिः स्यात् इह सिद्धदर्शनेपि जन्मान्ते साफल्यादित्येतत्सिद्धिचतुष्टयोपादानस्य हेतुमाह कश्चित् । वस्तुतो ध्यानजमनाशयमपवर्गभागीयमिति वक्तव्यमस्तीति पञ्चविधसिद्धचित्तं दर्शयतीति प्रतिभाति ॥

(४) पूर्वोपचितानामिति । मनुष्यादिजातिरूपेण पूर्वपरिणतानामित्यर्थः ॥

(५) किं प्राप्तमिति । संशयित्वाऽवधारयति सतीष्वपीति । प्रकृतीनां प्रधानानाम् , धर्मादीनि आदिना अधर्मम् ।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

धर्मादिप्रकृतीनां निमित्त न प्रयोजकं भवति तस्यापि कार्यत्वात् नहि कार्यं कारणं प्रयोजयति स्वतन्त्रस्य प्रयोजकत्वात्—यथा न खलु उत्पित्सितेनोत्पन्नेन वा घटेन कुलालमन्तरेण मृदादयः कारणानि प्रयुज्यन्ते किन्तु स्वतन्त्रेण कुलालेन, तथाच न पुरुषार्थोऽपि प्रवर्त्तकः(१) किन्तु तदुद्देशेनेश्वरः तस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबन्धापनये एव व्यापारो वेदितव्यः। यथा क्षेत्रिकः केदारादद्भिः पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं वाऽऽपः पाणिना नापकर्षति आवरणं त्वालवालमासां भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरकमधर्मं भिनत्ति(२)तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्व विकारं स्वावयवानुप्रवेशेनानुगृह्णन्ति अत्रोदाहरणं नन्दीश्वरादयः। तत्र धर्मस्याधर्मरूपप्रतिबन्धापसारणद्वारा बहुलसत्त्वकायेन्द्रियपरिणामनिमित्तत्वम्। एवमधर्मस्य धर्मापसारणद्वारा तमोबहुलकायेन्द्रियपरिणामनिमित्तत्वम् यथा नहुषनामा राजाऽजगरो भवदिति ॥ ३ ॥

यदा तु(३)योगी कायान् बहून् निर्मिमीते तदा ते(४) किमनेकमनस्काः उतैकमनस्का भवन्तीत्यत आह—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

स्वसङ्कल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तानीत्युच्यन्ते यावन्ति शरीराणि निर्मिमीते तावन्त्येव चित्तानि भवन्ति। तेषां कारणमाह अस्मितामात्रादिति। अहङ्कारमात्रादित्यर्थः। मात्रशब्देन मनसो व्यावृत्तिः सङ्कल्पमात्रेण तस्य निमित्तमात्रत्वात्। अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची अहङ्कारप्रकृतिकत्ववचनात्। बुद्ध्यहङ्कारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानबुद्ध्यापूरात्स्यन्तीति प्रत्येतव्यं युक्तिसाम्यादिति। तदेतच्छरीरभेदेन नानाचित्तैर्विरुद्धनानाकार्यकारित्वं योगिनां स्मर्यते ॥ ४ ॥

नन्वेकचित्तत्वे एकाभिप्रायानुरोधश्च परस्पर प्रतिसन्धानं च न स्यातामित्याशङ्क्याह सूत्रम्—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

अनेकेषां बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायानुसारिणी प्रवृत्तिः स्यादित्यालोच्य योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेवैकं चित्तं स्वनिर्मितानां चित्तान्तराणां प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं नियामकं करोतीत्यर्थः। नायकचित्ताभिप्रायादेवेतरेषां निर्मितानां चित्तानां प्रवृत्तिरिति भावः। अत्र पुराणमस्ति यथा—

---

(१) निरीश्वरसांख्यनये ह्यनागतपुरुषार्थ एव प्रकृतीनां प्रवर्त्तकः अस्माकं सेश्वराणां मते तु पुरुषार्थोद्देशेनेश्वरः प्रवर्त्तकः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेये"त्यादिश्रुतिभ्यः "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम्। सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमित्यादि"स्मृतिभ्यश्चेश्वरस्य तेजःप्रभृतीनामीक्षणपूर्वकं जगत्स्रष्टृत्वश्रवणादचेतनस्य प्रेक्षणानुपपत्तेश्च, न ह्यचेतनं चेतनाधिष्ठितं किंचित्कुर्वदुपपद्यते रथशकटादावदर्शनादित्यत आह न पुरुषार्थो हि प्रवर्त्तक इति। उद्देश्यतामात्रेण पुरुषार्थः प्रवर्त्तक इत्युच्यते। वस्तुतोऽव्यक्तस्योत्पित्सोरस्य पुरुषार्थस्य स्थितिकारणत्वम् नैतावता धर्मादीनामनिमित्ततापतिबन्धापनयनमात्रेण तदुत्पत्तेः।

(२) अधर्मं भिनत्तीति। अधर्मरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारेणैव धर्मादिः परिणामनिमित्तमिति सिद्धम्। अधर्मनिवृत्तिमात्रे तु धर्मः कारणं न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ हेतुरिति बोध्यम् ॥

(३) सिद्धिविनिर्मितनानाकायवर्त्तिचित्तैकत्वनानात्वे विचारयति यदा त्विति ॥

(४) निर्मातृयोगिमनोमात्रेण व्यवहारभाज उत निर्मातृयोगिमनोऽतिरिक्तप्रातिस्विकमनोभाज इत्याशयेनाह किमनेकेत्यादि ॥

एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः । भूत्वा तस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः ॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैव मेव हि । एकधा तद्द्विधाचैव त्रिधा च बहुधा पुनः ॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च । प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥ म
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्ये रश्मिगणानिवेति ॥ ५ ॥

एवमुदितेषु पञ्चसु जन्मौषध्यादिजातसिद्धिसिद्धचित्तेष्वपवर्गभागीयं चित्तं निर्धारयति—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तत्र पञ्चविधसिद्धचित्तानां मध्ये यदेव ध्यानजं ध्यानसंस्कृतं चित्तं तदेवानाशयम् आशेरते इत्याशयाः कर्मवासना: क्लेशवासनाश्च त एते न विद्यन्ते यस्मिन् तदनाशयं चित्तमपवर्गभागीयं भवति, योगेनैव ज्ञानोत्पत्त्या वासनोच्छेदसम्भवान्न मन्त्रादिभिस्तत्संभवतीत्यर्थः । यतो योगिनो रागादिनिबन्धना प्रवृत्तिर्नास्ति अतो नास्ति पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वात् कस्मात्पुना रागादिजनिता प्रवृत्तिः, जन्मौषधिमन्त्रतपःसिद्धिसंस्कृतचित्तानां त्वस्त्येव कर्माशय इति भावः ॥ ६ ॥

अत्रैव हेतुपरतया सूत्रमवतारयति यतः—

कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥

खल्वियं चतुर्विधा कर्मजातिः कृष्णा शुक्ला शुक्लकृष्णा अशुक्लाकृष्णा चेति । तत्र कृष्णा तमोमूला दुःखफलिका हिंसादिः सा दुरात्मनाम् । शुक्लकृष्णा रजोमूला दुःखोपसर्जनसुखफला बहिःसाधनसाध्या यागादिः अनयोः परपीडानुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयोऽस्ति (१) शुक्ला सत्त्वमूला सुखमात्रफला बहिःसाधनशून्या तपःस्वाध्यायध्यानादि, सा हि केवलमनोमात्राधीनत्वान्न परान् पीडयित्वा भवति योगाङ्गानुष्ठानसाध्यस्य कर्माशयफलस्येश्वरे समर्पणान्न तत्र कर्माशयप्रचयः । अशुक्लाकृष्णा गुणाहेतुका सुखदुःखफलशून्या संप्रज्ञातसमाध्यादिः सा च संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां भवति । निरत्ययसुखफलं हि शुक्लमुच्यते कर्मसंन्यासाद्यस्य फलमेव नास्ति कुतस्तत्र कर्माशयप्रचयः । तथा च योगिनो निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य क्रिया दिव्यादिव्यव्यापारोऽशुक्लाकृष्णः पुण्यपापाहेतुर्भवति । इतरेषामयोगिनां यथायोग्यं कर्म शुक्लकृष्णयोः प्रत्येकसमुच्चयाभ्यां त्रिविधमित्यर्थः ॥ ७ ॥

कर्माशयं विविच्य क्लेशाशयगतिमाह—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

ततः त्रिविधात्कर्मणः तद्विपाकानुगुणानाम् पुण्यजातीयस्यापुण्यजातीयस्य वा कर्मणो यो विपाको दिव्यो वा नारको वा जात्यायुर्भोगः तस्यानुगुणास्तदनुजातीया वासनाः कर्मविपाकमनुकुर्वन्ति दिव्यभोगजनिता हि दिव्यकर्मविपाकानुगुणाः नारकभोगजनिता हि नारककर्मविपाकानुगुणा च तासामभिव्यक्तिर्भवति नहि (२) मनुष्यभोगवासनाभिव्यक्तौ दिव्यकर्मफलोपभोगः सम्भवति, तस्मात्स्वविपाकानुगुणा एव वासनाः कर्माभिव्यञ्जनीया इति ॥ ८ ॥

---

(१) यद्यपि व्रीह्यादिसाधने कर्मणि परपीडा नास्ति परन्तु तदवघातादिसमये पिपीलिकादिवधसम्भवात् अन्ततो बीजादिवधेनाङ्कुराद्युत्पत्तिप्रतिबन्धादस्त्येव परपीडा अनुग्रहश्च दक्षिणादिना ब्राह्मणादेरिति भावः ॥

(२) नरत्वप्राप्तौ सत्यां चित्ते प्रसुप्ता एव स्वर्गादिभोगवासना इत्यत आह नहीति । समस्तानां कर्मविपाकानां चतस्रोऽवस्था भवन्ति प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारा इतीत्यविद्याक्षेत्रमित्यादिसूत्रे २-४—व्याख्यातम् यदा हि तद्भोगवासना उदारा विषये लब्धवृत्तिकास्तदा कुतस्तदन्यभोगसम्भव इति भावः ॥

बहुजन्मव्यवहितानामपि वासनानामभिव्यक्तिं कर्मफलान्यथानुपपत्तिप्रमाणेन साधयति (१)—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

संस्काराणां तत्तद्योनिप्रापककर्मफलारम्भेणेति शेषः, जात्यादिभिर्व्यवहितानामपि वासनानां (संस्काराणा)मानन्तर्यमव्यवहितवत्तत्तद्योनिप्रापककर्मविपाकाभिव्यक्तिभवति स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् यथाऽनुभवास्तथा संस्काराः ते च कर्मवासनारूपाः (२) यथा च वासनास्तथा स्मृतिरित्यर्थः । अयं भावः । वृषदंशयोनिप्रापक (वृषदंशो मार्जारः)कर्मफलारम्भः स्वव्यञ्जकं यत्कारणं तेनैव वर्त्तमानोऽवस्थितो भवति, न तु देहत्यागमात्रेण झटित्येवाकस्मिकः अतः संपदि जातिशतादिव्यवधानेनापि स्वव्यञ्जकं प्राप्य फलोन्मुखी भवेत्तदा शीघ्रमेव पूर्वप्राप्तवृषदंशविपाकजनितसंस्कारान् गृहीत्वैवाभिव्यक्तो भवति ननु ताननुपादायैवेति व्यवहितानामपि वासनानां सदृश (एकजातीयफलत्वेन) कर्मव्यङ्ग्यत्वादित्यत आनन्तर्यमेव फलतो भवति । जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्त इति ॥ ९ ॥

स्यादेतत् व्यज्येरन् पूर्वपूर्वतरजन्माभिसंस्कृता वासनाः यदि पूर्वपूर्वतरजन्मसद्भावे प्रमाणं स्यात् तदेव तु नास्ति, नच जातमात्रस्य जन्तोर्हर्षशोकदर्शनमात्रं प्रमाणं भवितुमर्हति पद्मादिसंकोचविकाशवत्स्वाभाविकत्वेन तदुपपत्तेरित्यत आह—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासां वासनानामनादित्वं (३)प्रवाहरूपेण प्रतिजन्मनियतत्वम् न केवलमानन्तर्यमिति चार्थः । आशिषो नित्यत्वात् सर्वेषां मा न भूवं भूयास(४)मित्याद्यात्माशिषो वासनानामनादित्वेन नित्यत्वाव्यभिचारात् । ननु पद्मादिसङ्कोचविकाशवदात्माशिषः स्वाभाविकत्वेनाप्युपपत्तेरसिद्धं तस्य नित्यत्वमिति चेन्न जातमात्रस्य (५)जन्तोरननुभूतमरणधर्मस्यानुमानाद्यसमर्थस्य च द्वेष्यदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासो यथोक्ताशीरूपो दृश्यते, तस्मादवश्यमेव तस्य पूर्वपूर्वभवीयमरणदुःखवासनाः स्वीकार्याः, अन्यथा तदुपपत्तिर्न स्यात्(६) । न च स्वाभाविकं वस्तु स्वोत्पत्तौ निमित्तमुपगृह्णाति (अपेक्षते) भयरूपा तु

---

(१) ननु स्मृतिसंस्कारयोरानन्तर्यनियमेन स्वर्गदेशे देवजन्मनि तद्भोगजाता वासनाः कथं नरवृषदंशादिजन्मसहस्रव्यवधानान्तरं पुनर्देवजन्मन्याभिव्यज्यन्त इति कथं तयोरानन्तर्यमित्याशङ्क्य तत्साधयति सूत्रेण । अनादिसंसारे येन कर्मणा यज्जन्मनि भोगैर्वासनाः संचितास्तासां जन्मकोट्या देशेन कल्पशतेन च व्यवहितानामपि तज्जातीयेन कर्मणा तज्जन्मनि प्राप्ते सति तेनैव कर्मणाऽभिव्यक्तानामानन्तर्यं सिद्धं स्मृतिद्वारा तत्कर्माणि प्रवृत्तिदर्शनात् ॥

(२) यथा अपूर्वं स्थायिकक्षणिककर्मनिमित्तमपि एवं क्षणिकानुभवनिमित्तोपि संस्कारः स्थायीति ।

(३) अनादित्वमिति । न वासनाश्चितिशक्तिवदनादयः किन्तु कार्या अपि तत्प्रवाहस्यानादित्वेन तासामनादित्वम् जातमात्रस्य कम्पादिनानुमितो मरणत्रासो द्वेष्यदुःखस्मृतिमभिचारेण कल्पयति स्मृतिश्च वासनानां सापि मरणजदुःखानुभवं सोऽस्मिन् जन्मन्यसम्भाव्यमानो जन्मान्तरं कल्पयतीत्यनादिरिति भावः ॥

(४) मानभूवमिति काकुः । अपि तु अभूवमेव सदाहं भूयासमित्यर्थः ।

(५) जातमात्रस्येति । मातुरङ्कात्प्रस्खलतः कम्पमानस्य मातृवक्षःस्थलपरिहितं सूत्रमतिगाढ माङ्गल्यचक्रादिनाच्छादितं यथा तथा पाणिना ग्राहमवलम्बमानस्य बलकस्य भेदानुमिता द्वेषानुषक्ते दुःखे या स्मृतिः तन्निमित्तो मरणत्रास इत्यर्थः ॥

(६) तदुपपत्तिर्न स्यादिति । कथं तस्य द्वेषतत्कारणस्मरणदुःखाभ्यामेवोत्पाद्यो मरणत्रासो यथोक्ताशीरूपः पूर्वपूर्वभवीयमरणदुःखवासनाभ्यां विना च सम्भवेदित्यर्थः ॥

यथोक्ताशीः खड्गप्रहारदर्शनादिरूपानिमित्तमपेक्षते अन्यथा तस्या अनुपपत्तेः अतो न स्वाभाविकी सेति । तस्माज्जातीयात्पूर्वजन्मन्यनुभूताद्द्वेषानुषक्तं दुःखं पूर्वमुपपादितं तस्य स्मरणात्तज्जातीयस्यानुभूयमानस्य तद्दुःखहेतुत्वमनुमाय ततो बिभेति । नाह बालकेनास्मिन् जन्मनि स्खलनस्यान्यत्र दुःखहेतुत्वमवगतम् । न च तादृशं दुःखमनुपलब्धं तस्मात्प्राग्भवीयोऽनुभवः परिशिष्यते तच्चैतदेवं (१)प्रयोगमारोहति जातमात्रस्य बालकस्य स्मृतिः पूर्वानुभवनिबन्धना स्मृतित्वात् अस्मदादिस्मृतिवदिति । एवं पद्मसंकोचविकाशावपि न स्वाभाविकौ, नहि स्वाभाविकं वस्तु कारणान्तरमपेक्षते यथा वह्नावौष्ण्यम् अन्यथा तत्प्रत्यपि कारणान्तरापेक्षाप्रसङ्गात् तस्मा(२)दागन्तुकमरुणकरसम्पर्कमात्रमेव पद्मविकाशकारणम् संकोचकारणं च संस्कारः स्थितिस्थापक इति । एवं स्मितादिनाऽनुमितहर्षादयोऽपि प्राचि भवे हेतवो वोदितव्याः ॥ १० ॥

ननु एताश्चित्तवृत्तयो वासनाश्चानादयश्चेत्कथमासामुच्छेदो न खलु चितिशक्तेरनादेरुच्छिद्यते इत्यत आह-

हेतुफलाऽऽश्रयाऽऽलम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतुरिति वासनाहेतुः संसारचक्रं तस्यापि हेतुरविद्या इत्यतोऽविद्यैव हेतुशब्दार्थः, यथा धर्मात्सुखमधर्माद्दुःखं सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषः ततश्च प्रयत्नः तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः (व्यापारवान्) सन् परमनुगृह्णाति उपहन्ति (द्वेष्टि) वा ततः पुनरपि धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषौ भवतः तस्य षडारस्य संसारचक्रस्य प्रतिक्षणमावर्त्तमानस्य नेत्री (नायिका) भ्रामिका (३)अविद्या अतएव सा सर्वक्लेशानां वासनानामुदये कारणम् अविद्याक्षये(४)च विहितनिषिद्धकर्मणां सत्त्वेऽपि संसारचक्रभ्रमणान्न वासनोदय इति भावः । फलं तु यं पुरुषार्थमुद्दिश्य यद्धर्माद्युत्पन्नं (वर्त्तमानं) तद्वासनानां फलविपाक इत्यर्थः । कर्मवासनयोरन्योन्यासहकारित्वात् न ह्यपूर्वोपजनः सम्भवतीति भावः । आश्रयः साधिकारं(५) मन आश्रयो वासनानामिति नहि समाप्ताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमर्हन्तीति भावः आलम्बनं यदाभिमुख्यीभूतं (सन्निकृष्टं) वस्तु यस्या वासनाया व्यञ्जकं भवति तस्यास्तदालम्बनं भवति तथा च एतैश्चतुर्भिः सर्वासां वासनानां संगृहीतत्वात्सपन्नत्वादेषां हेतुफलाश्रयालम्बनानामभावे(६)ऽत्यन्तोच्छेदे तदभावः तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावेऽत्यन्तोच्छेद इत्यर्थः । व्यापकाभावे व्याप्याभाव इत्याशयः ॥ ११ ॥

---

(१) **तच्चैतदेवमिति** । एतदुक्तं भवति बालकस्येदृशो दृश्यमानः कम्पो भयनिबन्धनः इतुःशकम्पत्वात् अस्मदादिकम्पवत् । तथा बालकस्य भयं द्वेषदुःखनिमित्तं भयत्वात् अस्मदादिभयवत् ॥

(२) आगामिप्रत्यवायोत्प्रेक्षालक्षणं च भयं न दुःखस्मृतिमात्राद्भवति अपि तु यतः कर्मणो बिभेति तस्य प्रत्यवायस्य हेतुभावमनुमाय संप्रत्यपि प्रत्यवायभयं विदध्यादिति शङ्कते तस्मादिति । किञ्च भवतां पद्मादिषु स्वाभाविकौ सङ्कोचविकाशौ परन्तु न चेतनेष्वचेतनदृष्टान्तो युक्तः सर्वथा स्वभावभेदादिति तत्त्वम् ॥

(३) भ्रामकेति । धर्माधर्मसुखदुःखरागद्वेषरूपारषट्कोनाविद्यादण्डप्रेरितेन भ्रमितं भवति यथा कुलालचक्रस्य हि दण्डेन शलाकप्रेरणे कृते वेगाख्यः संस्कारो भवति येन कियत्कालं स्वयमपि भ्रमति तथैव भ्रामितं संसारचक्रं वासनाहेतुरिति भावः ॥

(४) **अविद्याक्षय इति** । सत्त्वपुरुषान्यताख्यात्युदयेऽनादिरप्यविद्या विनश्यति चितिशक्तिस्तु विनाशकाभावान्न विनश्यति न त्वनादित्वात्तिष्ठतीति भावः ॥

(५) **साधिकारमिति** । अधिकारसमाप्तौ मन एव न तिष्ठतीति कुतस्तस्य वासनाश्रयत्वमित्यत आह साधिकारमिति विशेषणमिति भावः ॥

(६) अभावे क्रियायोगाद्भ्योगजा विप्लवविवेकख्यातेस्तासामभाव इत्यर्थः ॥

नास्त्यसतः स(१)म्भवो न चास्ति सतो विनाश इति वासनानां सत्कार्याभ्युपगमात्ता वस्तुत्वेन विद्यमानाः कथं निवर्त्तयिष्यन्त इत्याशङ्क्याह—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अतीतं प्राप्ताभिव्यक्तिकम् अनागतं भविष्यदभिव्यक्तिकं वर्त्तमानं स्वव्यापारे उपारूढं (प्रवर्त्तमानं) च स्वरूपतोऽस्ति यतोऽतीतादिवस्तु स्वरूपतोऽस्त्येवाऽतो न वासनोच्छेदो न वासनासरूपोपायोऽपितु वासनानामत्यन्तातीततामात्रसम्पादनमित्यर्थः । नन्वेकदा विरुद्धमानानां वर्त्तमानादिलक्षणा धर्माणां कथमेकत्र सत्ता घटेत तत्राह—अध्वभेदाद्धर्माणामिति । अध्वभेदादवस्थाभेदात तेषामेवैकदा धर्माणां भिन्नाध्वकत्वादविरोध इत्यर्थः । नासतामुत्पादो न सतां विनाशः किन्तु सतामेव धर्माणामध्वभेदपरिणाम एवोदयव्ययाविति भावः । अतीतानागतयोः स्वरूपानपाये प्रमाणं दर्शयति भाष्ये त्रयमित्यादि । तद्यथा यतः उक्तत्रयं वर्त्तमानादिलक्षणं वस्तु स्वरूपतो योगिप्रत्यक्षस्य विषयः अतस्तत्स्वरूपसत् नचासत् ज्ञानविषयः सम्भवति निरुपाख्यत्वात् (असत्त्वात्) विषयावभासं हि विज्ञानं नासति विषये भवति शशशृङ्गादीनां ज्ञानानुदयात् त्रैकाल्यविषयं च ज्ञानं योगिनाम् अस्मदादीनां च विज्ञानमविषयभानविषये नोत्पन्नं स्याद उत्पद्यते च क्वचिदतीतविषये स्मरणाख्यं तस्मादतीतानागते सामान्यरूपेण समनुगते स्तः । अयं भावः । अव्यक्तावस्थापन्नस्य तयावस्थया कारणे विद्यमानस्यैव सतो घटादेर्वर्त्तमानताकरणे निमित्तं दण्डादि समर्थम् नात्यन्तासतः शशकशृङ्गादेस्तथा करणे किञ्चिन्निमित्तमस्ति । नन्वेवं कारणस्यापि सदातनत्वादतीतावस्थादपि कारणात्सदैव कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति चेन्न । वर्त्तमानावस्थापन्नमेव कारणं कार्यस्य व्यक्तावस्थापादनं कुरुते नातीतावस्थापन्नकारणमिति । अतीतानागतयोरध्वनोर्न कार्यस्य स्वरूपाभिव्यक्तिः नैकस्याश्चावस्थायाः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति ॥ १२ ॥

स्यादेतत् अयं तु नानाप्रकारो धर्मिधर्मावस्थापरिणामरूपो विश्वप्रपञ्चो नैकस्मात्प्रधानाद्भवितुमर्हति नह्यविलक्षणात्कारणात्कार्यभेदसम्भव इत्यत आह—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

यतस्ते त्र्यध्वानो धर्मा व्यक्तात्मानो वर्त्तमानाः सूक्ष्मात्मानोऽतीतानागता महदादिघटान्ताः गुणात्मानः गुणः सत्त्वादिरेवात्मा स्वरूपो येषां ते तथा । तत्र षडविशेषरूपाः (२)सूक्ष्मात्मानः सन्ति अतः कार्यभेदसम्भव इत्यर्थः । न त्रैगुण्यातिरिक्तमेषामस्ति कारणम् वैचित्र्यं तु गुणगृहीतानादिक्लेशवासनानुगताद्वैचित्र्याद्भवति तथाचोक्तं वायुपुराणे-'वैश्वरूप्यात्प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुत' इति । दृश्यमानमिदं सर्वं धर्मजातं सत्त्वादीनां संस्थानभेदविशेषमात्रं (परिणामविशेषमात्रं) तद्विलये तद्विलयात् । वर्त्तमानतायां तु तन्नियतमिति त्रिगुणात्मकमायैव जगत्परमार्थ इति । तथाच शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकमिति ॥

परमं पारमार्थिकं नित्यमिति यावत् मायेव लौकिकमायेव सुतुच्छकमत्यन्ततुच्छकं विनाशि क्षणभङ्गुरमिति यावत्, तथाच माया झटित्येवान्यथा भवति एवं विकारा अपि आविर्भावतिरोभावधर्माणः प्रतिक्षणमन्यथा भवन्ति प्रकृतिनित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति ॥ १३ ॥

---

(१) नास्त्यसत इति । "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ! ॥ भविष्याणि च भूतानी"त्यादिस्मृतिरप्यत्र प्रमाणम् । लोकेपि तत्परिणामत्रयसंयमादिना योगिनोऽतीतानागतं साक्षात्कुर्वन्ति कुलालादयश्च बुद्ध्यारोप्य घटादीन् निर्मिमते नहि खपुष्पादीन् यथात्वं केनचिदपि स्वीक्रियते इति ।

(२) षडविशेषरूपा इति । शब्दतन्मात्रादयः पञ्च षष्ठोऽहङ्कार इति तन्मात्रात्मकानां पृथिव्यादीनामहङ्कारात्मकैकादशेन्द्रियाणां च वर्त्तमानानामतीतानागताध्वानः सन्तीत्यर्थः ॥

भवतु त्रैगुण्यस्येत्थं परिणामवैचित्र्यं यदि सर्वे विकारा अनेकगुणमात्रास्तथा कथमेकस्तत्परिणामः 'एका पृथिवीयं वा एकः शब्दः एकमिन्द्रियमिति लोकशास्त्रयोर्व्यवहार इत्याशङ्क्योत्तरसूत्रमाह—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामस्यैकत्वाद्वस्तूनां तत्त्वमेकत्वमित्यन्वयः । परमार्थतो गुणानां नानात्वेपि व्यावहारिकेणा नित्येन परिणामरूपेणैकत्वव्यवहार इत्यर्थः । बहूनामप्येकः परिणामो लोके दृश्यते यथा गवाश्वमहिषमातङ्गानां रुमा(१)निःक्षिप्तानामेको लवणत्वजातीयलक्षणः परिणामः वर्त्तितैलानलानां च प्रदीप इति तथा प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां सत्त्वप्रधानतया ग्रहणात्मकानां प्रकाशात्मनामहंकारावान्तर कार्याणां कारणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रादीन्द्रियम् , एवं कर्मात्मकानां राजसान्तःकरणरूपेण परिणमानां कारणान्तर्भावेनैकः परिणामो वागादीन्द्रियमित्यपि बोध्यम् । तेषामेव गुणानां तमःप्रधानतय जड़त्वेन ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दादिविषयः । पृथिवीत्वादिकाठिन्यमूर्त्तिजातीयानां शब्दादिपञ्चतन्मात्राणामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवः (२)तेषां (३)चकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि (४)स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः ॥ यदि हि भूतानि भौतिकानि च विज्ञानमात्राद्भिन्नानि भवेयुस्ततस्तदुत्पत्तिकारणमीदृशं प्रधानं कल्पेत न तु तानि परमार्थतो विज्ञानातिरिक्तानि, तथाहि बाह्यवस्तुनः प्रातीतिक्येव सत्ता न तु गुणा वा तत्परिणामो वा अतीतादिकं वा परमार्थतोऽस्ति, यथा स्वप्नादौ तावद्विषयं विनापि ज्ञानमुभयवादिसिद्धम् प्रत्यक्षविषयत्वं विना हि विषयः परैरपि न स्वीक्रियते अत उभयवादिसिद्धेन ज्ञानेनैव स्वप्नादिवद्व्यवहारोपपत्तौ ज्ञानातिरिक्तार्थकल्पने गौरवमिति विज्ञानवादिमतमुपन्यस्य स्वमतोपन्यासेन खण्डयति भाष्यकारः **नास्त्यर्थ** इत्यादि विज्ञानाभावकालिकोऽर्थो नास्ति ज्ञानं त्वर्थाभाव कालिकं स्वप्नादौ कल्पितमस्तीति ज्ञानपरिकल्पनमात्रं स्वप्नविषयोपमं सर्वं वस्तु भूतभौतिकमित्येतद्युक्तिमार्गेण ये विज्ञानवादिनो वस्तुस्वरूपमत्यन्तमपाकुर्वते तेऽश्रद्धेयवचनाः, यतो ज्ञानाभावकालिकोऽर्थोऽस्त्येव तत्प्रत्युपस्थितमिदं वस्तु सर्वं भूतभौतिकं स्वमाहात्म्येन प्रतिज्ञानमिन्द्रियसन्निकर्षादिनैवोपस्थितम न तु दोषादिना स्वप्नवदत्यन्तबाधादर्शनात् अतः कथं वस्तुस्वरूपमुत्सृज्याप्रमाणात्मकेन (विकल्पज्ञानबलेन(५)स्वप्नज्ञानदृष्टान्तबलेन वस्तुस्वरूपमपलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः , तेषां वाक्यस्य यथार्थवाक्यार्थज्ञानाजन्यत्वादित्याशयः । न हि जाग्रज्ज्ञानस्य स्वप्नदृष्टान्तेन विषयापलापे क्रियमाणे स्वाभिप्रेतस्य यत्किञ्चिज्ज्ञानस्य विषयः सन् इत्यभ्युपगन्तुं शक्यते प्रामाणिकैरिति ॥ इदमत्राकूतम् सहोपलम्भनियमश्च वेद्यत्वं च हेतू सन्दिग्धव्यतिरेकतया नैकान्तिकौ (न प्रामाणिकौ) तथाहि(६)ज्ञानाकारस्य भूतभौतिकादेर्यदेतद्बाह्यत्वं स्थूलत्वं च भासते न ते ज्ञाने सम्भवतः, तथाहि बाह्यत्वं नानादेश-

---

(१) रुमेति । स्थलविशेषो लवणाकरः 'रुमा स्याल्लवणाकर' इत्यमरकोषात् ॥

(२) स्थूलपृथिव्याः परमसूक्ष्मावस्थेत्यर्थः । नायं निरवयवोऽपि तु तन्मात्रावयव इत्यत आह-तन्मात्रावयव इति ।

(३) महाभूतादिरूपपरिणामेष्वप्येकत्वं दर्शयति तेषामिति ।

(४) भूतान्तरेष्वपीति । जलादिषु स्नेहादिजातीयानि जलत्वतेजस्त्ववायुत्वाकाशत्वजातीयानि तन्मात्राणि गृहीत्वा सामान्यसजातीयानामनेकेषां धर्मभूत एकविकारारम्भः समाधेयः उपपादनीय इत्यर्थः । तद्यथा गन्धतन्मात्रं विना चतुस्तन्मात्राणां स्नेहादिजातीयानामेकः परिणामो जलपरमाणुः तेषां च महाजलादिः, एवमग्न्यादावपि बोध्यम् ।

(५) विकल्पज्ञानस्याप्रामाण्यादिति भावः ।

(६) ग्राह्यग्राहकभेदसाधकयोर्वेद्यत्वसहोपलम्भयोर्हेत्वोः साध्याभेदाविद्धेपभेदव्याप्तित्वेनानैकान्तिकत्वं वक्तुमुपक्रमते तथाहीत्यादिना ।

व्यापित्वम् स्थूलत्वं च विच्छिन्नदेशत्वं न चैकविज्ञानस्य नानादेशव्यापिता विच्छिन्नदेशता चोपपद्यते-ऽदेशत्वातद्देशत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्यैकत्रासम्भवात् सर्वं चाक्षुषं प्रमारूपानुविद्धं बुद्धिबोध्यं नियमेन मनुजैरुपलभ्यते न तावता घटादिरूपं प्रमात्मकं भवति अपि तु प्रमोपायत्वान्नियमः एवमिहापि विज्ञानविषय उपायोपेयभावहेतुकः सहोपलम्भनियमो नाभेदहेतुकः तस्मादनैकान्तिकत्वषदेतौ हेत्वाभासौ विकल्पमात्रमेव ग्राह्याभावे उच्येते। न च प्रत्यक्षमाहात्म्यं (१)विकल्पमात्रेणोपपद्यते तस्मात्साधूक्तं भाष्यकृता कथमप्रमात्मकेन विकल्पज्ञानबलेनेति दिक् ॥ १४ ॥

तदेवं भाष्यकृत्सूत्राद्बहिर्विज्ञानातिरिक्तविषयस्थापने युक्तिमुक्त्वा सौत्रीं युक्तिमवतारयति कुतश्चेदिति—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुनो विषयस्य साम्ये ऐक्ये चित्तस्य भेदान्नानात्वात्तयोर्ज्ञानार्थयोर्विभक्तः पृथगेव पन्थाः स्वरूपभेदोऽयनस्य मार्ग उपायः विरुद्धधर्मद्वयमेकानेकत्वरूपमित्यन्वयः। यस्य नानात्वे यस्यैकत्वं तत्ततोऽत्यन्तं भिद्यते यथा चैत्रस्य ज्ञानमेकं भिन्नेभ्यो देवदत्तविष्णुमित्रचैत्रादिप्रत्ययेभ्यो भिद्यते ज्ञाननानात्वपक्षेऽपि चार्थो न विद्यते इति भवति विज्ञानेभ्योऽन्यो विषयः। अभेदश्चार्थस्य ज्ञानभेदेपि प्रमातॄणां परस्परप्रतिसन्धानादवसीयते एतदेवाह भाष्यकारः,-'बहूनां चित्तानामवलम्बनीभूतमेकं वस्तु प्रत्यभिज्ञाविषयम् तत्खलु नैकमात्रीयपुरुषचित्तात्मकं (चित्तपरिकल्पितं) तथा नानेकपुरुषीयचित्तात्मकं किन्तु स्वात्मन्येव स्थितमिति।" दृश्यते च रक्तद्विष्टावमूढमध्यस्थानामेकस्यां योषिति प्रतीयमानायां या त्वया दृश्यते सा मयापीति प्रतिसन्धानम् तस्मा(२)द्वस्तुसाम्येपि ज्ञानभेदादर्थज्ञानयोर्विभक्तः पन्थाः। पुरुषभेदेनैकस्मिन् योषिद्वस्तुनि धर्मनिमित्तकं रागात्सुखज्ञानं सुखवती स्त्र्याकारवृत्तिः, अधर्मनिमित्तकं द्वेषाद्दुःखज्ञानम् अविद्यानिमित्तान्मूढज्ञानं विषादः सम्यग्दर्शनापेक्षं माध्यस्थं विज्ञानमिति। अतः कस्य पुरुषस्य चित्तेन तत्परिकल्पितं स्यान्न कस्यापीति सिद्धम्। न चाप्यन्यपुरुषचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्त उपरागः सम्भवति परस्वप्नस्य परेणाज्ञानात्, अन्यथा स्वप्ने एकस्मिन् नीलज्ञानवति पुरुषे सर्व एव नीलज्ञानवन्तः स्युः तस्मात् ग्राह्यग्रहणयोर्भेदेन वैधर्म्येण भिन्नयोर्ज्ञानार्थयोर्विभक्तः पन्थाः नानयोः संकरगन्धोप्यस्तीति। नन्वस्मिन्मतेऽर्थस्य स्थिरत्वान्निरन्तरमेव कथं न ज्ञानं भवति कथं वा एकोऽर्थः स्वप्नादिभेदभिन्नासु वृत्तिषु सुखादिभेदाभिन्नविज्ञानहेतुः, न ह्यविलक्षणात् कारणात्कार्यभेदो घटते कारणस्वरूपस्यैकार्थस्याविलक्षण्यादिति चेन्न। एकस्यैव बाह्यवस्तुनस्त्रैगुण्यपरिणामस्य सुखदुःखमोहात्मकतया चित्तस्य च त्रिगुणवृत्तत्वेन चलस्वभावतया च धर्मादिनिमित्तवशात्सुखाद्यर्थं चित्तैर्वस्तु संबध्यते एवं सति न सर्वदा ज्ञानम्, तथा धर्मादिनिमित्तानुरूपं सुखाद्यात्मकं विज्ञानं प्रति सुखाद्यात्मकत्वेनैव वस्तु हेतुर्भवतीति कारणतावच्छेदकभेदान्न सर्वेषामविशेषेण सुखाद्यात्मकप्रत्ययोत्पादः। रजःसहितं सत्वं धर्मापेक्षं सुखज्ञानं जनयति तमःसहितं रजोऽधर्मापेक्षं दुःखज्ञानं जनयति, तमोमात्रमविद्यापेक्षं मोहं जनयति, सत्वमेव तमोरजोरहितं विद्यापेक्षं माध्यस्थमिति। न च ते धर्मादयः सर्वे सर्वत्र पुरुषे सन्ति किन्तु कश्चित्क्वचिदित्यभ्युपपन्ना व्यवस्थेति ॥ १५ ॥

अत्र केचिदाहुः प्रावादुकाः—अस्तु ज्ञानातिरिक्तोऽर्थः तथाप्यसौ जड़त्वान्न ज्ञानमन्तरेण प्रतिपत्तुं शक्यः ज्ञानेन तु भासते अतो ज्ञानसहभूरेवार्थो योग्यत्वात् सुखादिव(३)दित्यनुमानेन ज्ञानसमय

(१) हेत्वाभासतया वेद्यत्वसहोपलम्भनियमौ भ्रमज्ञानप्रमाणावेव बाह्याभावं बोधयता न तु याथार्थ्येन, अस्तु तर्हि विकल्पात्मकज्ञानेनैव बाह्याभाव इत्यत आह न च प्रत्यक्षमाहात्म्यमिति।

(२) तस्मादिति। एकस्यैव वस्तुनोऽनेकविज्ञानामिति हेतोरित्यर्थः। नहि ज्ञानार्थयोरैक्यं युक्तम् एकत्वे विषयविषयित्वविरोधात् बाह्यार्थाभावे विज्ञानानां नीलपीताद्याकारत्वस्यायोगात् कथमपि तदुपपत्तौ स्वप्नवत्तेषामप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च।

(३) सुखादिवदिति। रागद्वेषादिश्चायं सिद्धो दृष्टान्तो युक्तः सुखादिदृष्टान्तस्त्वसम्मते विषये सुखाद्यारसाङ्गीकारादित्याशयः॥

एवास्ति अन्यदा प्रमाणाभावादिति । तदेतदुक्तं तावद्दूषयति भाष्यकारः न एतया द्वारा इति । ये बौद्धभेदाः एतेनानुमानेन विषयस्य पुरुषान्तरसाधारण्यं बाधमानाः सर्वप्रत्यक्षासिद्धं ज्ञानपूर्वोत्तरक्षणेषु विषयं निराकुर्वते । वस्तु खलु सर्वचित्तसाधारणमनेकक्षणपरंपरोह्यमानं परिणामात्मकं लौकिकपरीक्षकैरनुभूयते तच्चद्विज्ञानेन सह भवेन्नूनमेवंविधं (विज्ञानाधीनोत्पत्तिनिधनं) स्यात एवं चेदिदमंशास्योपरि कोयमनुरोधो येन सोपि नापह्नुयेतेति भावः । माभूदिदमंशस्यापह्नवो ज्ञानसहभूरेवास्त्वर्थस्तत्राह—

नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

चित्तपदं ज्ञानार्थकम् चकारो निश्चयार्थः । नहि एकज्ञानाधीनं वस्त्वस्ति तत्र हेतुमाह तदप्रमाणकमिति । तत् ज्ञानं न प्रमाणं यस्मिन् तत्तदप्रमाणकं न ज्ञानप्रमाणकमित्यर्थः । तत्प्रमाणकमित्यपपाठः । यदीत्यध्याहार्यं, तथाच यदि ज्ञानैकनियतं चेद्वस्तु स्यात्तर्हि यदा तदप्रमाणकं ज्ञानेन न विषयीकृतं व्यग्रनिरुद्धचित्तेनापरामृष्टमन्येनागृहीतस्वभावकं च वस्तु तदा किं स्यान्न स्यादित्यर्थः । चित्तापाये तत्कुत्र विलीयेत न कुत्रापीत्यतो वस्तु स्थिरमिति तत्त्वम् । सम्बध्यमानं च पुनश्चित्तेन तद्वस्तु कुत उत्पद्येत चित्तापायेन तदपाये पुनस्तत्रवोत्पद्यत यतो नियतकारणान्वयाभावानुविधायिभावानि कार्याणि न स्वकारणमतिवर्त्य कारणाद्भवितुमर्हन्ति । अपि च ज्ञानाधीने सद्भावे तु यो मध्यपरभागव्याप्तस्य गृह्यमाणास्यार्वाग्भागस्य (अग्रभागस्य) प्रतीयमानभागौ मध्यपरभागौ (अन्तरपृष्ठभागौ) तावप्रामाणिकत्वान्न स्तः व्यापकाभावादर्वाग्भागोपि न स्यादित्यर्थाभावात्कुतो ज्ञानसहभूरर्थ इति परमतमपाकृत्य स्वमतमुपपन्नतयोपसंहरति भाष्यकारः—तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च 'चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्त्तन्ते तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग' इति ॥ १६ ॥

स्यादेतत् अर्थश्चेत्स्वतन्त्रः स च जडस्वभाव इति न कदाचित्प्रकाशेत प्रकाशने सति वा जडत्वमस्यपगतमिति भावोप्यपगच्छेत् न जातु स्वभावमपहाय भावो स्थातुमर्हति न चेन्द्रियाद्यधिकप्रकाशो जडस्वभावस्यार्थस्य धर्म इति युज्यते प्रकाशस्यार्थधर्मत्वे स च नीलत्वादिगुणवत्सर्वपुरुषसाधारणः स्यादित्येकस्मिन् शास्त्रार्थज्ञे सर्वे विद्वांसः प्रसज्येरन् न जाल्मः कश्चित्स्यात् तस्मात्स्वतन्त्रोर्थ उपलम्भविषय इति मनोरथमात्रमेतादृत्यत आह सूत्रम्—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

अयःसधर्मकं चित्तं तस्यायस्कान्तमणिकल्पा विषयास्तदुपरागापेक्षित्वाद्धेतोः (स्वसमानाकारत्वमुपरागः) ज्ञाताज्ञातं च वस्तु भवतीत्यन्वयः । अस्यार्थः अयस्कान्तवत्क्रियाशून्या (जडस्वभावा) अपि विषया अयोवत्क्रियाशीलं चित्तमभिसम्बन्ध्योपरञ्जयन्ति (इन्द्रियद्वारा स्वस्मिन् संयोज्य स्वसमानाकारं कुर्वन्ति, अतो येन विषयेण स्वाकारकारितं चित्तं स विषयस्तस्य ज्ञातोऽन्यश्चाज्ञात इति । एवं च विषयस्य ज्ञाताज्ञातत्वान्यथाऽनुपपत्त्या चित्तस्योपरागाख्यपरिणामः सिद्धः । सदा ज्ञातविषयात्पुरुषाद्वैधर्म्यं च सिद्धमिति बोध्यम् । अयं भावः । तदेवंभूतं चित्तदर्पण(१)मुपसंक्रान्तप्रतिबिम्ब चितिशक्तिश्चित्तमर्थोपरक्तं चेतयमानार्थमनुभवति (प्रत्यक्षयति) तत्वर्थे किञ्चित्प्राकट्यादिकमधत्ते चितिशक्तिस्तु नाप्यसंबद्धा चित्तेन कदाचित् तत्प्रतिबिम्बसंक्रान्तिरुक्तत्वात् ॥ १७ ॥

तदेवं चिद्व्यतिरेकिणमर्थमवस्थाप्य तेभ्यः परिणतिधर्मकेभ्यो व्यतिरिक्तमात्मानमादर्शयितुं तद्वैधर्म्यापरिणामित्वमस्य वक्तुं पूरयित्वा सूत्रं पठति—

---

(१) चित्तदर्पणमिति । यद्यपि चित्तस्य जडत्वान्न ज्ञानं ज्ञानन्तु चैतन्यमेव पौरुषेयत्वात् उभयकल्पने गौरवात् । बुद्धिसत्त्वस्य प्रकाशरूपता च प्रतिबिम्बग्रहणक्षमनैर्मल्यमात्रं तथापि तत्रापि व्यवहारतो बुद्धिसत्त्वप्रकाशोपि ज्ञानशब्देनोक्तः ॥

(यस्य तु तदेवं चित्तं विषयस्तस्य) सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

यस्य तु (पुरुषस्य) तदेव विषयोपरक्त(तत्तदर्थोपरक्त)मेव चित्तं विषयो नान्यत् अतस्तस्य तत्प्रभोश्चित्तस्वामिनः चित्तसाक्षिणः पुरुषस्य चित्तवृत्तयः सदा ज्ञाता एव न कदाप्यज्ञाताः, कुतः?पुरुषस्यापरिणामित्वादित्यर्थः। अयं भावः। क्षिप्तमूढ(१)विक्षिप्तैकाग्रतावस्थितं चित्तमानिरोधात्सर्वदा वृत्तिमत्पुरुषेणानुभूयते यतः पुरुषोऽपरिणामी परिणामित्वे चित्तवत्पुरुषोपि ज्ञाताज्ञातविषयो भवेत् कदाचिद्विद्यमानापि चित्तवृत्तिर्न ज्ञायेत एवं चाहं सुखी न वेति संशयः स्यात्, एतेन (२) पुरुषोऽपरिणामी सदा ज्ञातविषयत्वात् यः परिणामी न स सदा ज्ञातविषयोऽयमपरिणामी ततश्च परिणामिभ्योऽतिरिच्यते। ननु पुरुषस्यापरिणामित्वव्यवस्थापने किमिति साङ्ख्ययोगयोराग्रह इति चेच्छृणु। यदि हि पुरुषस्य ज्ञानादिलक्षणधर्मश्चेत्तर्हि कश्च(३)न मोक्षे नश्येत तदा व्ययदोषेण दारिद्र्यवन्मोक्षो न परमपुरुषार्थः स्यात् इति बुद्धिवृत्तिरिव पुरुषस्य विषय इति लब्धम्। अत एव पुरुषो विषयी नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृत इत्यनुगीतायामुक्तम्। चित्तस्य विषयत्वे तदारूढानां शब्दादीनामपि पुरुषेण समं विषयविषयीभावसत्वात् अर्थाकारतैव विषयविषयीभावो न तु संयोगमात्रम् अतीन्द्रिये व्यभिचारात् सा च प्रतिबिम्बरूपणैव पुरुषेऽस्ति प्रतिबिम्बसमर्पणसामर्थ्यं वृत्तिमच्चित्तस्यैव फलबलेन कल्पनात् यथा जलादौ प्रतिबिम्बसमर्पणसामर्थ्यं रूपवत्स्थूलद्रव्यस्यैवेति। एवञ्चेच्छासुखादिपरिणामोपि चित्तस्यैव अज्ञानस्य चित्तधर्मतया तत्कार्यमधर्मादिकं तत्कार्यं चेच्छासुखादिकमपि सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्तौ लाघवात् पुरुषस्य तु अपरिणामित्वे सिद्धे चित्प्रकाशरूपमेकमेवात्मद्रव्यं (४) सिध्यतीति ॥ १८ ॥

---

(१) सदाज्ञातविषयत्वं तु सवृत्तिकस्य मनसस्तस्य यः प्रभुर्भोक्ता तस्यैव एवं च निरोधावस्थायां चित्तस्याज्ञानेऽपि न क्षतिरित्याशयेनाह क्षिप्तमूढेत्यादि ॥

(२) एवं च ज्ञायमानाः शब्दाद्याकाराश्चित्तवृत्तयो भोग्यास्तेषां भोक्तुः पुरुषस्यापरिणामित्वं ज्ञापयन्ति साक्षिणोऽपरिणामित्वादेव हि स्वयं ज्ञाता भवन्ति नान्यथेत्याह एतेनेति। पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वोपपादनेनेत्यर्थः ॥

(३) कश्चोत न मोक्षे नश्येदिति काकुः अपितु सर्वे मोक्षे सति नश्येयुरेवेत्यर्थः। मोक्षे सति ज्ञानादिविशेषगुणरूपावयवनाशादवयविनो नाशात् यथा गन्धादिनाशेऽवश्यं पृथिव्या नाशः नहि गन्धादीनपहाय पृथिवी स्थातुमर्हति शिखाध्वंसेन शिखी ध्वस्त इति तथेहापीति बोध्यम्। व्ययदोषेण नाशदोषेण दारिद्र्यवत् यथा न कोपि दारिद्र्यमिच्छति तथा मोक्षमपि नेच्छेत् स्वस्य नाशसम्भवादिति भावः ॥

(४) एकमेवात्मद्रव्यमिति। न चायमात्मा अणुपरिणामः, तथासति समस्तशरीरव्यापिचैतन्यस्यानुपलम्भप्रसङ्गात् नापि मध्यपरिणामः, तथाभूतस्य सावयवत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात्, एवं चात्माकात्स्र्न्यमिति न्यायनिरस्तत्वाच, नापि परममहत्परिणामः, उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिविरोधात्, अतः किंपरिणामोयं प्रत्यगात्मेति। उच्यते—स्वतस्तावदखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् 'स वा एष महानज' आत्मा इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिणाम एव। ब्रह्मात्मस्वभावत्वं चास्य प्रवेशश्रुतिभ्यः तथा 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य एको देवो बहुधा सन्निविष्टः एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति त्वमेकोसि बहूननुप्रविष्टः, एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि। यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छत्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा एवंरूपं प्रतिरूपो बभूव अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्ये"वमादिभ्यः "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि. अहमात्मा गुडाकेश, ममैवांश" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च एवं च

ननु न चित्तमात्मनो विषयः अपि तु स्वाभासं सत्(१)विषयप्रकाशम् अग्निवत् स्वप्रकाशमेतद्विषयाभासं पूर्वचित्तं प्रतीत्य समुत्पन्नं भवति तत्कृतः पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं कुतश्च परिणामिनश्चित्ताद्भेद इति चित्तात्मवादिनां (वैनाशिकानां) शङ्कां परिहरति—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

यथा इन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा तत् मनोपि न स्वाभासं भवति दृश्यत्वादित्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः-चित्तं न स्वाऽऽभासं(२)स्वगोचरवृत्त्यभावकालेन स्वप्रकाश्ये दृश्यत्वात् इन्द्रियशब्दादिवदिति । तथाच स्वविषयकवृत्त्यभावकाले चित्तभानार्थं (३)पुरुषः सिध्यति ।

वृत्तिभानार्थं नियमेन वृत्तिकल्पने चानवस्थामेकविंशसूत्रे स्वयमेव वक्ष्यति । पुरुषस्य ज्ञेयतायाः (४)प्रागुक्तत्वेन व्यभिचारः स्यादतः साध्ये काल इत्यन्तं निर्दिष्टम् । चित्तं तु न स्वसंवेदनं भवति तत्परिणामितया नीलादिवदनुभवव्याप्यम् । अयं भावः । यच्चानुभवव्याप्यं न तत्स्वाभासं भवितुमर्हति स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् न तदेव क्रिया च कर्म च कारकं च नहि पाकः पच्यते छिदा वा छिद्यते । पुरुषस्त्वपरिणामी नानुभवकर्म इति हेतोरस्मिन् स्वयं प्रकाशता युज्यते अपराधीनप्रकाशतो ह्यस्य स्वयंप्रकाशता तस्माद्दर्शनकर्मचित्तं न स्वाभासम् आत्मप्रकाशप्रतिबिम्बितस्यैव चित्तस्य तद्वृत्तिविषयाः प्रकाशन्त इति ॥ नचाग्निरत्र दृष्टान्तो भवितुमर्हति यतो न ह्यग्निरात्मस्वरूपमनुभवति (प्रकाशयति) प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगक्रियारूपो दृश्यते न तु स्वरूपेऽस्ति संयोगः (५)। एतदुक्तं भवति या या क्रिया सा सा सर्वा कर्तृकरणकर्मसम्बन्धेन दृष्टा यथा पाकः चैत्राग्नितण्डुलसम्बन्धेन दृष्टः तथा प्रकाशोपि क्रिया इति । सम्बन्धश्च भेदाश्रयो नाभेदे संभवति कर्तृकर्मविरोधादिति । ननु कस्यचिन्मते-

---

संसारित्वावस्थायामेव तस्योपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्नं मध्यपरिमाणम् तच यथोपाध्यनुरूपत्वादनियतम् तथाच दर्शयति श्रुतिः— अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः, बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन प्रयुज्यते । इत्यादिवचनैः, तस्माद्देहेन्द्रियप्राणमनोबुध्यव्याकृत (अविभक्त) विलक्षणः तत्साक्षी चिद्धातुः सद्रूपः प्रत्यगात्मेति निश्चितोऽर्थ इति वेदान्तिनः ॥ योगमते च-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति, सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः, द्वाविंशतिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः । हिताहिता नाम नाड्यस्तासांमध्ये शशिप्रभम् । मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीपे इवाचलः । हृयग्निश्चन्द्रमाः सूर्यः सोममध्ये हुताशनः । तेजोमध्ये स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितोऽच्युतः । इत्यादिस्मृतिभ्यः हृत्पुण्डरीकमध्यगतसत्त्वावच्छेदेनात्मनोऽवस्थानप्रतीत्या तत्सत्त्वपरिमाणपरिच्छिन्नत्वमेवात्मनोऽवगम्यते तस्यातिसूक्ष्मत्वेन स्वतः परिमाणस्य दुर्वचत्वात् अङ्गुष्ठमात्रमित्यादिकथनमुपासनानुरोधेन कल्पनामात्रम् । अतएव अङ्गुष्ठमात्रोरवितुल्यरूप आराग्रमात्रे ह्यवरोपि दृष्ट इत्युक्तम् । एवंसति यथा काचभाण्डापिहितविद्युद्वर्तिस्वरूपो दीपस्तदनन्तरं प्रकाश्यस्वप्रभया समस्तभवनं प्रकाशयति तथा सत्वावच्छिन्नो लिङ्गशरीरस्थश्चैतन्यरूपो जीवो लिङ्गशरीरं प्रकाश्य (चेतयित्वा) तच्छरीरसम्बन्धात्समस्तं स्थूलशरीरं चेतयति, उक्तं च श्रीभगवता-यथा प्रकाशयत्येक-कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारतेति ॥

(१) स्वाभासं सदिति । साधारणं प्रकाशकत्वमखण्डोपाधिः प्रकाश इति व्यवहारहेतुः स्वाभासतारूपसाध्ये प्रवेशनीयः तेनाग्निचेतनयोरेकरूपप्रकाशाभावेपि न क्षतिः ॥

(२) स्वाभासमिति । स्वाभासं स्वप्रकाशं स्वप्रकाशत्वं न स्वाभिन्नप्रकाशक्रियाकर्मत्वं वक्तुं शक्यम् । नहि क्रिया कर्म भवति नापि पुरुषवत्स्वभिन्नप्रकाशाविषयत्वं क्रुद्धं मे मन इत्यनुभवविषयत्वादिति भावः। स्वगोचरवृत्त्या भावकाले घटोऽस्तीत्यादिवृत्तिकाले ।(३)पुरुष इति । तस्मिन् स्वप्रकाशत्वं सिद्धम् ।

(४) ज्ञेयतायाः घटमहं जानामीत्याद्यनुव्यवसाये स्वस्य ज्ञानविषयताया इत्यर्थः ।

(५) संयोग इति । यतः परसमवेतक्रियाफलभागित्वरूपकर्मत्वं न क्रियाश्रये कर्त्तरि सम्भवतीत्याशयः।

ऽप्रकाशत्वरूपमेव स्वाभासत्वं चित्तस्येति स्वाभासं चित्तमग्राह्यमेवेति चेन्न । स्वचित्तस्य वृत्तिरूपव्यापाराणां प्रतिसंवेदनात् क्रुद्धोऽहमित्याद्यनुभवात्प्राणिनां तद्धानार्थं प्रवृत्तिर्दृश्यते ते च वृत्तिभेदाः क्रोधलोभादयः स्वाश्रयेण चित्तेन स्वविषयेण च सह प्रत्यात्ममनुभूयमानाश्चित्तस्य ग्राह्यतां संपादयन्ति तच्च न स्वबुद्ध्यग्रहणे युक्तं भवति तस्माच्चित्तस्य ग्राह्यत्वमवश्यं वक्तव्यम् । ननु क्रुद्धोऽहमित्यादिप्रत्यये पुरुषस्यापि ग्रहणात्स्वाभासत्वं न स्यादिति चेन्न । आदौ क्रोधादीनां स्वरूपतो निर्विकल्प एव बोधः पुरुषस्य भवति सोपि बोधो द्रष्टृत्वरूप एव तस्यापरिणामित्वेन वृत्त्यभावात् क्रुद्धोऽहमित्यादिप्रतीतेस्तु पौरुषेयनिर्विकल्पस्य बोधस्य शब्दागोचरत्वेनान्यथोपन्यस्तुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्तु अहंकार एवानुव्यवसायोदयः व्यक्तिपुरुषस्य भ्रान्तत्वेन जपाकुसुमोपरक्तलौहित्यप्रतीतिवन्निरुक्तानुव्यवसायात्मकवृत्तिमहदहङ्कारोपरक्तपुरुषे क्रोधादिप्रतीतेरित्यलम् ॥ १९ ॥

दूषणान्तरमाह—

एकसमये चोभयाऽनवधारणम् ॥ २० ॥

न चैकस्मिन् क्षणे येनैव व्यापारेणात्मानमवधारयति तेनैव विषयमपीति वक्तुमर्हति नह्यविलक्षणो व्यापारः कार्यभेदाय समर्थः तस्माद्व्यापारभेदोऽङ्गीकार्यः । न च वैनाशिकानामुत्पत्तिभेदातिरिक्तोऽस्ति व्यापारः न चैकस्या एवोत्पत्तेरविलक्षणायाः कार्यवैलक्षण्यसम्भवः तत्सम्भवे च तस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । न चैकस्योत्पत्तिद्वयसम्भवः तस्मादर्थस्य ज्ञानस्वरूपस्य चावधारणं नैकस्मिन् समय इति । नन्वेवं स्वोत्पत्त्यनन्तरं ग्रहणमस्तु तन्न तन्मते (१) यद्भवनं सैव क्रिया तदेव कारकमित्यभ्युपगमात्, तस्माच्चित्तस्य सदातनमेतद्दृश्यत्वं स्वाभासत्वमपनयद्द्रष्टारं च द्रष्टुरपरिणामित्वं दर्शयतीति सिद्धम् ॥ २० ॥

ननु स्वाभासमित्यस्य न केनाचिदग्राह्यमित्यर्थः येन कर्तृकर्मविरोधादिदोषा आपद्येरन् अपि तु विनाशस्वभावत्वेन निरुद्धं यच्चित्तं तदुत्तरोत्तरमुत्पन्नेन चित्तान्तरेण समनन्तरेण (२)गृह्यत इत्यभ्युपगच्छाम इति चेन्मतिर्वैनाशिकानां तदपि न युक्तमित्याह—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

चित्तातिरिक्तात्माऽनङ्गीकारे तु भवन्मते यदि चित्तं चित्तान्तरेण गृह्यते तदा चित्तगोचरचित्तस्य (३)केन ग्रहणं स्यात् चित्तान्तरदृश्ये चित्तान्तरेण यच्चित्ते दृश्येऽभ्युपगम्यमाने च बुद्धिबुद्धेः चित्तचित्तस्यातिप्रसङ्गोऽनवस्था स्यात्(४)स्मृतिसङ्करश्च बुद्धिबद्धेरित्यनुषङ्गः यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवा जातास्तावन्त्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति । अस्मायमर्थः—विषयानुभवकाले ज्ञानधारा जातेति विषयस्मृतिकालेप्यनन्तानां तज्ज्ञानानां स्मृतिरेकदैव स्यात् घटो मया पुरा ज्ञातः घटज्ञानं यज्ज्ञानं तज्ज्ञानं चेत्येवमनन्ताकारः सोऽयं स्मृतिसङ्करः प्राप्त इति । सङ्कराभ्युपगमे च घटो मया ज्ञात इत्येकमात्राकारस्मृत्यनुभवो न स्यात्-अस्मन्मते च पौरुषेयबोधस्य नित्यतया निर्विकल्पतया च न स्मृतिहेतुत्वमिति ॥ २१ ॥

---

(१) तन्मत इति । क्षणिकवादिमते या वस्तुन उत्पत्तिः सैव क्रिया सैव तस्य कार्यं सैवं कर्त्रादिकारकवर्गः तन्मते सर्ववस्तूत्पत्तिमात्रफलकं निर्हेतुकं स्वयमेव भवतीति सिद्धान्तः ।

(२) समन्तरेणेति । समं चानन्तरं च समनन्तरम् समं च ज्ञानत्वेन अन्तरं चाव्यवहितत्वेन इत्यर्थः ।

(३) चित्तं गोचरो यस्येति चित्तगोचरमित्यर्थः ।

(४) अनवस्था स्यादिति । तच्चित्तमन्येन तदप्यन्येनेत्यनवस्था स्पष्टैव । किञ्च एकस्यैव चित्तस्य वृत्त्यन्तरेण वृत्तिर्गृह्यत इति मा भवत्वनवस्था परन्तु वृत्तिगोचरानन्तवृत्तिकल्पनागौरवमपरिहार्यमेवेतिभावः ।

स्यादेतत् यदि चित्तं न स्वाभासं नापि चित्तान्तरवेद्यं कथमात्मनापि भोक्ष्यते चित्तम् न खल्वात्मनः स्वयंप्रकाशस्याप्यस्ति काचित्क्रिया (१)न च तामन्तरेण कर्ता भवति न चासंबद्धश्चित्तेन कर्मणा तस्य भोक्ता अतिप्रसङ्गादित्याशयेनाह—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसम्वेदनम् ॥ २२ ॥

अप्रतिसंक्रमाया अप्रतिसञ्चारायाः(२)अपि चितेश्चितिशक्तेस्तदाकारतापत्तौ बुद्धेश्चितिबिम्बाधारतया तद्रूपतापत्तौ सत्यां स्वबुद्धिसम्वेदनं स्वीयबुद्धिवृत्तिदर्शनम् यथाहि चन्द्रमसः क्रियामन्तरेणापि संक्रान्तचन्द्रप्रतिबिम्बममलं जलमचलं (कर्तृ) चलमिव चन्द्रमसमवभासयति तथा विनापि चितिव्यापारमुपसङ्क्रान्तचितिप्रतिबिम्बं चित्तं स्वगतया क्रियया क्रियावतीमसङ्क्रान्ता (असञ्चारा) मपि सङ्क्रान्ता चितिशक्तिमवभासयत्स्वस्य भोग्यभावमासादयत्सत् तस्याश्चितेर्भोक्तृभावमापादयतीत्यर्थः (सम्पादयतीत्यर्थः) एवञ्च प्राप्ते चैतन्यप्रतिबिम्बया बुद्धिवृत्तेस्तत्प्रतिबिम्बाधारमात्रेण तदविलक्षणाज्ञानवृत्तिराख्यायते। इदं च वृत्तिसारूप्यमितरत्र, द्रष्टा दृशिमात्र इति सूत्रद्वयस्य भाष्ये स्पष्टम्। बुद्धिवृत्त्यविशिष्टत्वे ज्ञानवृत्तेरागममुदाहरति भाष्यकारः यथा 'न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्त' इति। अस्यार्थः यस्यां गुहायां शाश्वतं सदा स्थितं नित्यमिति यावत्। ब्रह्म विशुद्धस्वभावं निहितं प्रतिष्ठितं सा गुहा न पातालादि सा किन्तु चितिच्छायामापन्नां बुद्धिवृत्तिं मनोवृत्तिमेव तच्छायापन्नत्वाच्चितेरप्यविशिष्टां गुहां पण्डिता वेदयन्ते पश्यन्तीति तस्यामेव गुहायां यद्गुह्यं ब्रह्म तदपनये तु स्वयं प्रकाशमनावरणमनुपसर्गं प्रद्योतते चरमदेहस्य भगवत इति ॥ २२ ॥

यदेवं दृश्यत्वेन चित्तस्य परिणामिनस्तदतिरिक्तः पुमानपरिणतिधर्मोपपादितः सम्प्रति लोकप्रत्यक्षमप्यत्र प्रमाणयति—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

सर्वे गृहीतृग्रहणग्राह्या अर्था पुरुषस्य भोग्या अस्मिन्निति सर्वार्थम्। यतश्चित्तं द्रष्टृदृश्योपरक्तं द्रष्टृदृश्योभयाकारमतः सर्वार्थं भवतीत्यर्थः। अयं घट इति बुद्धिवृत्त्यनन्तरं घटमहं जानामीति बुद्धेर्वृत्त्यन्तरस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्याकारस्यायं घट इति वृत्तिवदेव साक्षिभास्यस्य प्रायशो दर्शनाच्चित्तस्य सर्वार्थत्वे हेतुर्द्रष्टृदृश्योपरक्तमिति। तथाच बुद्धिसम्वेदनमेव बुद्धिस्थस्य शब्दादेः स्वस्य च सम्वेदनम्। याहि शब्दादिपुरुषोभयाकारा बुद्धिवृत्तिः पुरुषे प्रतिबिम्बिता भासते इदमेव शब्दादेः पुरु-

---

(१)काचित्क्रियेति। पुरुषस्यापरिणामित्वेन विषये सञ्चाराभावात्तदाकारपरिणामाभावाच्च कथाञ्चित्तज्ज्ञातृत्वरूपं चित्तभोक्तृत्वम् चित्तेन च स्वस्य सञ्चारात्तदाकारपरिणामाच्च घटादिविषयग्रहणं वृत्तमिति भावः।

(२) अप्रतिसञ्चराया इति। विभुत्वेनैव सर्वत्र सन्निकृष्टस्यात्मनः सञ्चारो नापेक्ष्यते। आपत्तिग्रहणं च पुरुषस्य पारमार्थिकाकारप्रतिषेधार्थम् तथाहि न स्वप्नजाग्रतोश्चित्तस्येव पुरुषस्य ज्ञानं भवति विषयासन्निकर्षकालेपि स्वप्नादौ तद्भानाय चित्तस्यागत्या तदाकारः परिणाम इष्यते। नैवं पुरुषस्य चित्तवृत्त्याभानेपि चित्तभानं भवति येन पुरुषेपि वृत्त्याकारः परिणाम इष्टः स्यात् किन्तु चेतवृत्तिस्वरूपपरिणामिन्यर्थे चितिः संक्रान्तेव प्रतिबिम्बरूपेण सञ्चारितेव सती तद्वृत्तिमनुपतति। चैतन्यभानार्थमपि वृत्तौ तत्प्रतिबिम्बः कल्प्यते बुद्ध्यारूढतयैव शब्दादिवदात्मनोपि नबत्करोति चैतन्यभानार्थमपि वृत्तौ तत्प्रतिबिम्बः कल्प्यते बुद्ध्यारूढतयैव शब्दादिवदात्मनोपि भानात्। अन्यथा घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायात्मकबुद्धिवृत्तेरनुपपत्तिः स्यात् बुद्धेरहङ्कारत्वादचेतनत्वाच्च तथाच स्फटिके सन्निकृष्टजपालौहित्यस्येव पुरुषे चित्तवृत्तिप्रतिबिम्बमेव वृत्तिर्लाघवादिष्यते उभयत्र परिणामकल्पने गौरवात् तदिदं वृत्तिबिम्बितत्वमेव वृत्त्याकारापत्तिरित्युक्तम् ॥ बुद्धिरूपता बुद्धिवृत्तिरूपता पुरुषे चित्तवृत्तिप्रतिबिम्बितत्वाङ्गीकारात्।

षस्य च दृश्यत्वम् बुद्धेर्दृश्यत्ववदित्यतो न पुरुषदर्शनार्थं द्रष्टृन्तरापेक्षा-नापि कर्तृकर्मविरोधोऽन्तःकरणद्वारत्वात् । अयं भावः यथाहि(१) नीलानुरक्तं (नीलाद्याकारं) चित्तं नीलाद्यर्थं प्रत्यक्षेणैवावस्थापयति तथा द्रष्टृच्छायापत्त्या तदनुरक्तं चित्तं द्रष्टारमपि प्रत्यक्षेणावस्थापयति । यतो मनो न केवलं विषयीभूतार्थेनोपरक्तं किन्तु विषयिणा पुरुषेण सहात्मीयया वृत्त्या स्वयमपि सम्बद्धम् (अनुरक्तं) यथैक एव स्फटिकमणिः (२)पार्श्वद्वयस्थयोर्जपेन्द्रनीलयोः प्रतिबिम्बनात्स्वीयरूपेण सह त्रिरूप इव भवति एवं चित्तमपि विषयात्मनोः प्रतिबिम्बनाद्ग्रहीतृग्रहणग्राह्यात्मकरूपावयववत्त्ववदिव भवति अतो द्रष्टृदृश्योपरक्तं सत्सर्वार्थमित्युच्यत इति । इयं च चिच्छायापत्तिश्चित्तस्य वैनाशिकैरभ्युपेतव्या कथमन्यथा ते चित्ते चैतन्यमारोपयामासुः बाह्यार्थवादिनः चित्तातिरिक्तचेतनानभ्युपगन्तारो वैनाशिकाः । विज्ञानवादिभिस्तु अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते इत्युक्तम् । तेषामयमाशयः । चित्तस्य सर्वरूपता चेत्स्वीकृता तर्ह्यलं पुरुषेण बाह्यार्थेन वा अनादिवासनावशात्स्वत एव चित्तस्यानन्तपरिणामस्वीकारसम्भवात् यतस्तेषामस्ति भ्रान्तिबीजमतस्तेऽनुकम्पनीयाः । भ्रान्तिबीजं(३) हि सर्वाकारनिर्भासत्वं चित्तस्येति ते खलूक्ताभिरुपपत्तिभिश्चित्तातिरिक्तं पुरुषमभ्युपगमय्याष्टाङ्गयोगोपदेशेन समाधिप्रज्ञायामात्मगोचरायामवतार्य बोधितव्याः । तद्यथा समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थ आत्मा प्रतिबिम्बीभूतोऽन्यः कस्मात् तस्मात्मनः चित्तस्यालम्बनीभूतत्वात् । ननु चित्तादभिन्नमेकस्मान्नालम्बनं भवति चेदुच्यते यदि च सदात्मरूपोऽर्थाश्चित्तमात्रं स्यान्न तु ततो व्यतिरिक्तः तर्हि कथं प्रज्ञैव प्रज्ञारूपमवधार्येत स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । तस्मात् (४)प्रज्ञायां प्रतिबिम्बीभूतः प्रतिबिम्बरूपेण जातोऽर्थो ज्ञानाकारो येन गृह्यते स पुरुष इति सिद्धम् । एवं च ये ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपाणां चित्तभेदात्तदेतत्त्रयं परस्परविजातीयतया विवेचयन्ति त एव सम्यग्दर्शिनस्तैरेव पुरुषो लब्धोऽन्ये सर्वे पुरुषार्थभ्रष्टा भ्रान्ताश्चेति ॥ २३ ॥

चित्तातिरिक्तात्मसद्भावे हेत्वन्तरमाह—

तदसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

यद्यप्यसङ्ख्येयाः कर्मवासनाः क्लेशवासनाश्च चित्तमेवाश्रयन्ते न तु पुरुषम् । तथाच वासनाधीना

---

(१) यतो नीलमहं सम्प्रत्येमीति ह्याकारं विषयविषयिनिर्भासकं ज्ञानमतो नीलाद्यर्थवत् ज्ञातारमपि प्रत्यक्षेणावस्थापयति तदाह—**यथाहीति** ।

(२) **स्फटिकमणिरिति** । अत्र च स्फटिकदृष्टान्तो न सर्वांशे बुद्धेः स्वार्थाकारपरिणामस्यैव स्वपक्षानुरोधेनेष्टत्वात् स्फटिके च प्रतिबिम्बमात्रस्य स्वीकारात् । किन्तु तत्तद्वस्तुसन्निकर्षेण तद्रूपतया प्रतीयमानतामात्रांशे स्फटिकस्य दृष्टान्त इत्यन्यदेतत् ।

(३) **भ्रान्तिबीजमिति** । सर्वाकारनिर्भासत्वमेव वैनाशिकानां चित्तस्यात्मत्वस्वीकारे भ्रान्तिकारणमित्यर्थः । चिच्छक्तावपि चित्तवदेव सकलवस्तुप्रतिबिम्बेन सारूप्यस्यैव विषयगतदोषस्य प्रपञ्चारोपहेतुता लाघवात् विषयकरणदोषयोश्च भ्रममात्रकल्पितत्वेन भ्रमात्पूर्वं तयोरभावस्य तन्मतेऽङ्गीकारान्न तयोस्तद्बीजत्वमिति भावः । घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाये सुखदुःखादिपरिणामलक्षणभोग्यात्मकं दृश्यमपि चित्तचित्प्रतिबिम्बाधारतया तदभेदाभ्यासादात्मेति भ्रमः सौगतानां युक्तः ।

(४) **तस्मादिति** । प्रज्ञारूपस्य प्रज्ञाग्राह्यत्वाभावादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः–"यन्मनसा न मनुते' येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इति । "आत्मैवेदं सर्वं वासुदेवः सर्वमि' त्यादि श्रुतिस्मृतयस्तु शक्तिमदाद्यभेदेनैवोपासनार्थं प्रवर्त्तन्ते इति न तद्विरोधः । एतेन जीवात्मप्रकरणेष्वात्मैक्यश्रुतीनामवैधर्म्यलक्षणाभेदेन विवेक एव तात्पर्यम् । परमात्मप्रकरणं तु जीवादपि विवेकेन परमात्मन एकस्यैवात्मत्वतात्पर्यमिति मन्तव्यम् । द्वितीयपादे विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इत्युक्तं तस्माद्विवेकज्ञानस्यैव सम्यग्ज्ञानतया मोक्षहेतुत्वमिति भावः ।

विपाकाश्चित्ताश्रयतया चित्तस्य भोक्तृतामावहन्ति भोक्तुरर्थं च भोग्यमिति सर्वं चित्तार्थं प्राप्तं तथापि तच्चित्तमसङ्ख्येयवासनाभिश्चित्रमप्यनेकाकारमपि परार्थमन्यस्य भोगापवर्गायैव भवति, कस्मात् संहत्यकारित्वात् इतरसाहाय्येना(१)र्थक्रियाकारित्वात् गृहवत् संहत्यकारिपदार्थानां लोके परमार्थत्वदर्शनादित्यर्थः । भोगापवर्गौ विना तत्र स्थातु परिणामितुं वा क्षमते । चित्तस्य पुरुषार्थसमाप्तौ च स्वविलयेन मोक्षस्य संप्राप्तेः । पुरुषस्तु चैतन्यरूपतया चैतन्यार्थं नान्यमपेक्षते अन्या चार्थक्रिया पुरुषस्य नास्तीति न संहत्यकारीति भावः । स्यादेतत् । चित्तं हि संहतमपि करिष्यति स्वार्थं च भविष्यति कः खलु विरोध इति चेन्न । संहत्यकारि चित्तं न स्वार्थं भवितुमर्हति यतः सुखाचित्तं (भोगाचित्तं) न चित्तस्य भोगार्थम् तथा तत्त्वज्ञानाचित्तं (अपवर्गचित्तं) न ज्ञानार्थं (न चित्तस्यापवर्गार्थं) भवितुमर्हति चित्तस्थभोगापवर्गयोरपि कार्यतया सार्थकत्वानियमेनानवस्थाप्रसङ्गात् । यत्कार्यं तत्सार्थकमिति हि सर्वसम्मतमतश्चित्तस्यैतदुभयमपि परार्थम । पुरुषस्य च भोगापवर्गौ स्वचैतन्यरूपतया न कार्याविति नानवस्था तस्य भोगो हि सुखादिसाक्षात्कारः अपवर्गश्च विवेकख्यातिसाक्षात्कारो वा स्वरूपावस्थानो वा सर्वथैव चैतन्यमात्र एवापरिणामित्वान्निर्धर्मत्वाच्चेति ॥ २४ ॥

तदेवं कैवल्यमूलबीजं युक्तिमयमात्मदर्शनमुक्त्वा तदुपदेशाधिकृतं पुरुषमनधिकृतपुरुषान्तराद्व्यावृत्तमाह—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

यस्या(२)त्मभावभावनाऽस्ति तस्याष्टाङ्गयोगोपदेशादनुतिष्ठतो युञ्जानस्य तत्परिपाकाच्चित्तसत्त्वपुरुषयोर्विशेषदर्शनात्कोऽहमासं(३) कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति आत्मभावभावना निवर्त्तते । यस्यात्मभावभावनैव नास्ति नास्तिकस्य तस्योपदेशानधिकृतस्यापरिनिश्चितात्मतत्परलोकभावस्य नोपदेशो न विशेषदर्शनं नात्मभावभावनानिवृत्तिरिति सूत्रार्थः । नन्वात्मभावभावनायाश्चित्तवर्त्तिन्याः कुतोऽवगम इत्यत आह भाष्यकारः यथा प्रावृषीत्यादि । यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्ताऽनुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्त्तितमित्यनुमीयत इति । तस्मिन् पुरुषे रोमहर्षादिलिङ्गेन प्राग्भवीयं तत्त्वदर्शनबीजमपवर्गभागीयं यत्कर्माष्टाङ्गयोगानुष्ठानं तदेकदेशानुष्ठानं वा तदभिनिवर्त्तितं सम्पादितमस्तीत्यनुमीयत इति तदर्थः । तस्य चात्मभावभावना अवश्यमेव स्वाभाविकी वस्त्वाभासं विनापि प्रवर्त्तते । येषां च प्राग्भवीयशुभकर्मानुष्ठानस्याभावात्स्वभावमात्मभावभावना नैव तेषां प्राग्भवीयशुभकर्मशून्यानां पूर्वपक्षे नित्यदेहाद्यात्मतायामेव रुचिः पञ्चविंशाततत्त्वनिर्णये चारुचिर्भवति ।

---

(१) इतरसाहाय्येनेति । देहेन्द्रियादिसहकारिभिर्मिलित्वा भोगादिकार्यकारित्वादित्यर्थः । यन्मिलित्वा कार्यकारि तत्परार्थम् यथा गृहादि न हि स्तम्भादिभिः संहत्य गृहं स्वस्य वसतिं करोति किन्तु परस्मै विष्णुमित्राय एवं गुणा अपि बुद्ध्यादिकं परार्थं कुर्वन्तीति युक्तम् । अत एव पुरुषशेषत्वात्प्रकृतिगुण उच्यते । तथाच बुद्ध्यादयः परार्थाः संहत्यकारित्वात् गृहवत् यो यस्य भोक्ता स तेनासंहतो यथा गृहस्वामीति व्याप्तिः, तस्माद्गुणैरसंहतः शुद्धो निष्कलः स्वार्थश्चिन्मात्रपरः सिद्ध्यतीत्यलम् ।

(२) यस्येति । विशेषदर्शिनः विवेकसाक्षात्कारिणः चित्तस्यात्मसत्तायां भावना जिज्ञासेत्यर्थः । विशेषदर्शनं बुद्धेरन्यश्चिन्मात्रः पुरुषोऽहमिति ज्ञेयम् । निवर्त्तत इति । इच्छायाः स्वविषयलाभस्य निवृत्तत्वादिति भावः ।

(३) कोहमासमिति । किं न रागादिरूप आसं कथमासं दुःखेन दंशेन वासं किंस्विदिदं वर्त्तमानमपि मम स्वरूपं किं देहो वा मन आदिर्वा कथंस्विदिदं केन वा प्रकारेण पुण्यपापादिना तिष्ठतीत्यादिरर्थः । के भविष्याम इत्याद्येकत्वे बहुवचनम् ।

विशेषदर्शनात्कुतः सा निवर्त्तते इत्याशङ्कयाह चित्तस्यैव विचित्रः परिणाम इति भावरूपः परिणाम इत्यर्थः। यतो विशेषदर्शनादसत्यामविद्यायां पुरुषः शुद्धश्चित्तधर्मै(१)रपरामृष्टोऽतो विशेषदर्शनकुशलस्यात्मभावभावना निवर्त्तते इति तन्निवृत्तेः स्वर्गनरकादिषु रागद्वेषादिनिवृत्तिः फलमिति ॥ २५ ॥

अथ विशेषदर्शिनः कीदृशं चित्तमित्यत आह—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तदा विशेषदर्शने सिद्धे विवेकनिम्नं विवेकमार्गसंचारि कैवल्यप्राग्भार अभिमुख्यं यस्य तत् कैवल्यप्राग्भारं कैवल्याभिमुखं भवतीत्यर्थः। यच्चित्तमविवेकमार्गसंचरणशीलं सत् विषयाभिमुखमासीत्तच्चित्तमधुना योगिनो विवेकमार्गसंचारि सत् कैवल्याभिमुखं जातमिति भावः ॥ २६ ॥

स्यादेतत् विशेषदर्शनं चेद्विवेकनिष्ठं न जातु चित्तं व्युत्थितं स्यात् दृश्यते चास्य भिक्षामटतो व्युत्थितमित्यत आह—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

तस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य छिद्रेष्वन्तरालेषु संस्कारेभ्यः पूर्वव्युत्थानानुभवजसंस्कारेभ्यः क्षीयमाणबीजेभ्यः प्रत्ययान्तराणि मनुष्योऽस्मि ममेदमित्याद्यविद्यारूपाणि व्युत्थानानि भवन्तीत्यर्थः। एतेन न केवलं सत्त्वपुरुषान्यतख्यातिसहकृतसंप्रज्ञातयोग एवालंप्रत्ययः कर्त्तव्योऽपि तु प्रत्ययान्तरनिरोधाय परवैराग्यलब्धजन्याऽसंप्रज्ञातलाभाय यतनीयमिति बोधितं भवतीति ॥ २७ ॥

स्यादेतत् सत्यपि विवेकज्ञाने व्युत्थानसंस्कारा यदि प्रत्ययान्तराणि प्रसुवते कस्तर्हि हानहेतुरेतेषां यतः प्रत्ययान्तराणि न पुनः प्रसुवीरन्नित्यत आह—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

एषां व्युत्थानसंस्काराणां हानं दाहः स्वकार्यासामर्थ्यं क्लेशवत् क्लेशानामिवोक्तं पूर्वाचार्यैः। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः, ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा इति सूत्राभ्यामित्यर्थः (यथा स्थूलसूक्ष्मक्लेशानां तत्त्वज्ञानचित्तलयाभ्यां दाहनाशौ प्रोक्तौ तथा तत्संस्काराणामपीति फलितोऽर्थः। अयं भावः। अपरिपक्वविवेकज्ञानस्य योगिनोऽक्षीयमाणा व्युत्थानसंस्काराः प्रत्ययान्तरं प्रसुवते नतु परिपक्वविवेकज्ञानक्षीणास्ते प्रत्ययान्तराणि प्रसोतुमर्हन्ति, यथा व्युत्थानदशायां विवेकच्छिद्रसमुत्पन्ना अपि पूर्वसंस्कारजाः(२)क्लेशा (अविद्यादिवृत्तयः) विवेकज्ञानवह्निदग्धबीजभावाः सन्तः न संस्कारान्तरं जनयन्ति तथा पूर्वव्युत्थानसंस्कारा अपि विवेकज्ञानाग्निना दग्धबीजभावा न प्रत्ययान्तरं प्रसुवत इति। अथ व्युत्थानसंस्कारा विवेकज्ञानसंस्कारैर्निरोद्धव्याः विवेकसंस्कारश्च निरोधसंस्कारैः (परवैराग्यसंस्कारैः) ज्ञानसंस्काराणां चित्ताधिकारसमाप्तौ चित्तेन सहैव नाशात्तन्निरोधाय साधनचिन्ता नास्तीति ॥ २८ ॥

तदेवं सूत्रकारो व्युत्थाननिरोधोपायं प्रसंख्यानमुक्त्वा तन्निरोधोपायमाह—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्यानं विवेकज्ञानं (३)विवेकसाक्षात्कारः तत्राप्यकुसीदः (४)सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपप्रसंख्यानफलमलिप्सुः परिणामित्वदोषदर्शनेन विरक्तस्य योगिनो व्युत्थानसंस्काराभावात् योगान्तरायाभावाच्च

---

(१) जन्ममरणदुःखादिभिः कदाप्यसम्बद्ध इत्यर्थः।

(२) पूर्वसंस्काराः प्राचीनः क्लेशसंस्कारो ज्ञानकाले ज्ञानसंस्कारेण प्रतिबन्धात्संस्कारो नोत्पद्यत इत्याशयेन पूर्वपदविशेषणम्।

(३) षड्विंशतितत्त्वान्यालोचयतः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सर्वाधिष्ठातृत्वाद्यवान्तरफला या जायते तद्विवेकज्ञानम्।

(४) अकुसीदः कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रोगः तद्रहित इत्यर्थः।

सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यातेः (विवेकख्यात्युदयाद्धेतोः) धर्ममेघनाम संप्रज्ञातयोगस्य पराकाष्टारूपः समाधिर्भवतीत्यर्थः । धर्मः(१) क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलको धर्मः प्रत्यकूब्रह्मैक्यसाक्षात्कारस्तं मेहति सिञ्चति वर्षतीति धर्ममेघः । यदाहुः "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनाम"ति । संस्काररूपस्य बीजस्य क्रमेण क्षयाद्धीयमानहेतोर्यदा प्रत्ययान्तराणि अविद्यारूपाणि नोत्पद्यन्ते तदा धर्ममेघः समाधिरिति बोधनाय सर्वथेत्युक्तम् । एतदुक्तं भवति । प्रसंख्याने विरक्तस्तन्निरोधमिच्छन् धर्ममेघं समाधिमुपासीत तदुपासने च सर्वदा विवेकख्यातिर्भवति यथा च तान्निरोद्धुं पारयतीति ॥२९॥

अस्याः समाधेः फलमाह—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

ततः धर्ममेघसमाधितः क्लेशकर्मनिवृत्तिः अविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं काषिताः मूलं स्वसंस्कारास्तैः सह यथा स्यात्तथा नष्टा भवन्ति, एवं प्रारब्धा(२)तिरिक्ताः कर्माशयाः कुशलाश्चाकुशलाश्च क्लेशाख्यमूलेन हता भवन्तीत्यर्थः । क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवतीति यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम नहि क्षीणविपर्ययः कश्चित्केनचित (जात्यादिना) क्वचिज्जातो दृश्यत इति क्लेशकर्मवासनेद्धः किल कर्माशयो जात्यादिनिदानम । न चासति निदाने निदानी भावितुमर्हतीति भावः । तदुक्तं गौतमाचार्यैः "वीतरागजन्माऽदर्शनादिति" ॥ ३० ॥

अथैवं धर्ममेघे सति कीदृशं चित्तमित्यत आह—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तदा धर्ममेघसमाधौ सत्यां जीवन्मुक्तावस्थायामिति ज्ञानभिक्षुः । आव्रियते चित्तसत्त्वमेभिरित्यावरणानि मलाः क्लेशकर्माणि सर्वे च त आवरणानि च मलाश्चेति सर्वावरणमलाः तेभ्योऽपेतस्य मुक्तस्य ज्ञायतेऽनेनेत्यनया व्युत्पत्त्या ज्ञानं चित्तसत्त्वं तस्याऽऽनन्त्यादपरिमेयत्वात् ज्ञेयं प्रकाश्यमल्पं(३) तदपेक्षया भवतीत्यर्थः । यथाहि शरदि घनपटलमुक्तचन्द्रार्चिषः परितः प्रद्योतमानस्य प्रकाशानन्त्यात्प्रकाश्या घटादयोऽल्पाः प्रकाशन्ते. एवमपगतरजस्तमसश्चित्तसत्त्वस्य प्रकाशस्यानन्त्यादल्पं प्रकाश्यमिति । यदि हि पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तमन्यदपि वस्तु तिष्ठत्तदा तदपि प्रकाशयेत ज्ञेयस्यैव तु अल्पतयाऽन्यत्र प्रकाश्यते न तु सत्त्वस्याल्पतयेति भावः ॥ ३१ ॥

ननु धर्ममेघस्य परा काष्ठा ज्ञानप्रसादमात्रं(४) परवैराग्यं समूलघातमपहन्तु व्युत्थानसमाधिसंस्कारान् क्लेशकर्माशयान् , गुणास्तु (५)स्वत एव विकारकारणशीलाः कस्मात्तादृशमपि पुरुषं प्रति देहेन्द्रियादि न आरभन्त इत्यत आह—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम ॥ ३२ ॥

ततः धर्ममेघोदयात् कृतार्थानां कृतः समाप्तः पुरुषार्थो येषां ते कृतार्थाः गुणास्तेषां (क्लेशकर्म-

---

(१) धर्मः अशुक्लाकृष्णः कैवल्यफलकः तं मेहतीति धर्ममेघ इत्यर्थः ।

(२) प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति नियमात्प्रारब्धातिरेकोक्तिः, अत एव वार्त्तिके अभिनिवेशातिरिक्तत्वं क्लेशविशेषणमुक्तम् ॥

(३) प्रकाश्यमल्पं किन्नाम यन्न गोचरमिति भावः ।

(४) अयमेव हि धर्ममेघपरिपाको ज्ञानप्रसादः करतलीकृतामलकवत्पुरुषं निर्दोषमपरोक्षीकुर्वन् निर्मलजलान्तर्मत्स्यानिव जडाविशुद्धप्रकृतिविकारदृश्याविषयान्तर्गताशुद्धिविनाशादिदोषान् प्रकटयन् चित्ततपस्विनो निर्बीजयोगाख्यनिधिमापादयन् परवैराग्यमित्युच्यते ॥

(५) गुणानां भोगविवेकख्यातिरूपपुरुषार्थकरणात्प्राक् यः परिणामानां महदादिघटान्तानां सृष्टावानुलोम्येन प्रलये च घटः पृथिव्यां लीयते पृथिव्यप्सु आपस्तेजसीत्यादिप्रातिलोम्येन च क्रमः तस्मिन् गुणानामकृतार्थे पुरुषं प्रति ह्यनागताध्वा पुरुषार्थः प्रवर्त्तक इति साङ्ख्याः ॥

निवृत्त्या परवैराग्योदयेन चेति भावः) गुणानां सत्त्वादीनां कृतार्थं पुरुषं प्रति परिणामः क्रमः समाप्यत इत्यर्थः । कृतार्थपुरुषाणां भोगापवर्गायिकपरिणामः पुनर्न भवति नहि कृतभोगापवर्गाः परिणामसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते शीलमिदं गुणानां यं प्रति कृतार्थास्तं प्रति न प्रवर्त्तन्ते इति भावः ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं परिणामक्रम इत्याशङ्क्याह—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

परिणामक्रमः (१)क्षणप्रतियोगी क्षणः कलांशः प्रतियोगी प्रतिसम्बन्धी निरूपको यस्य स तथोक्तः क्षणप्रचयाश्रय इत्यर्थः । नहि क्रमः क्रमवन्तमन्तरेण निरूपयितुं शक्यः न चैकस्यैव क्षणस्य क्रमः सम्भवतीति क्षणप्रचयाश्रय इति सिद्धः, तदेवाह भाष्ये **क्षणानन्तार्यात्मेति** । आनन्तर्यमव्यवधानं क्षणेनाव्यवधानमेवात्मा यस्य स तथोक्तः क्षणेनाव्यवहित इति तदर्थः । स च क्रममन्वेति, तथाच क्षणान्तर्यात्मा क्रमः परिणामस्या(२)परान्तेन पर्यवसानेन चरमावस्थयेति यावत्, निर्ग्राह्यः अनुमातव्य इत्यर्थः । क्षण(३)व्यवहितपरिणामधारा पारिणामक्रमशब्दार्थ इति भावः । यथा नवस्य हि पटस्य प्रयत्नसंरक्षितस्यापि चिरेण पुराणता दृश्यते सोऽयं परिणामस्यापरान्तः पर्यवसानम् तेन हि परिणामस्य क्रमस्ततः प्रागपि पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलस्थूलतरत्वादीनां पौर्वापर्यमनुमीयते तथेहापीति बोध्यम् । नन्वपरान्तेनानित्येष्वेव वस्तुषु क्रमः सिद्धो न तु प्रधाने तस्य नित्यत्वेन चरमावस्थाया अभावादतो गुणानां पारिणामक्रमे किं प्रमाणं येन तत्समाप्तिः पूर्वसूत्रोक्ता घटेत इति चेत्सत्यम् । वस्तुतो नित्यस्य स्वतोऽपरान्ताभावेपि विकाराणामपरान्तैरेव प्रतिक्षणं परिणामक्रमोऽनुमितः परन्तु द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामनित्यता च, तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य परिणामनित्यता गुणानाम् । ननु परिणामि सदैव स्वरूपेण च्यवमानं कथं गुणा नित्या इति चेदुच्यते । यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं (४)स्वस्वरूपं नातीतावस्थापन्नं भवति तादृशनित्यत्वस्यात्र ग्रहणं त, अतीतताशून्यमात्रं नित्यस्य सामान्यलक्षणं तच्च गुणपुरुषोभयसाधारणम् । गुणधर्मेषु (५)बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः परिणामक्रमो लब्धपर्यवसानः तेषां विनाशित्वात् । नित्येषु धर्मिषु गुणेषु सोऽलब्धपर्यवसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु (६)मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति । अयं भावः । स्वरूपास्तिता च तत्तत्क्षणमात्रपरिणामक्रमश्च पुरुषेप्यस्ति इदानीं स्थित्वा पश्चात्स्थास्यतीति व्यवहारात्, अन्यथा सर्वकालसम्बन्धरूपनित्यताऽनुपप-

---

(१) पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः तस्य क्रमः पूर्वापरीभावः परिणामक्रमशब्दार्थः ।

(२) परिणामस्यानवच्छिन्नधारायाः प्रमाणप्रदर्शकं सूत्रावयवं व्याचष्टे भाष्यकारः परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यत इति ॥

(३) एवं क्षणिकपरिणामक्रमो मन्तव्यः यथा मृदि पिण्डघटकपालचूर्णकणानां प्रत्यक्षपरिणामानां पूर्वान्तः पिण्डः अपरान्तः कण इति पूर्वापरावधिग्रहणेन क्रमो निश्चित्य ग्राह्यो भवति । एवं सुरक्षितवस्त्रादौ पुराणतादर्शनेन पूर्वान्तनवत्वपरिणाममारभ्य क्षणे क्षणे पुराणतायाः सूक्ष्मतमत्वादिना जायमानाया भेद एव क्षणव्यवहितपरिणामधारेत्याह **क्षणाव्यवहितेत्यादि** ॥

(४) तत्त्वमिति ॥ धर्मलक्षणावस्थानामुदयव्ययधर्मत्वम् धर्मिणस्तु तत्त्वादवियात एवेति बोध्यम् ।

(५) बुद्ध्यादिषु अपरान्तः पुरुषसाक्षात्कारोऽस्ति परिणामक्रमः अत एव सावधिकः गुणेषु परिणामिनित्येषु परिणामक्रमो निरवधिकः मुक्तपुरुषान् प्रत्युपरमेपि बद्धान् प्रत्यविच्छेदादित्यत आह— **गुणधर्मेष्वित्यादि** ॥

(६) बद्धानामविवेकेन चित्ताव्यतिरेकाभिमानात्परिणामाध्यास इत्याशयेनाह **स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेष्विति** ॥ तस्यैव स्वरूपाख्यानं **मुक्तपुरुषेष्विति** ॥

त्तेरित्यतस्तत्राप्यलब्धपर्यवसानः । वस्तुतस्तु मुक्तानां चास्तिक्रियामुपादायावास्तवोपि परिणामो मोहकल्पित एवेति । अथ(१) सृष्टिप्रलयप्रवाहेण गुणेषु वर्तमानस्य संसारस्य क्रमसमाप्तिरस्ति न वा, अस्ति चेदलब्धपर्यवसानोक्तिविरोधः, नास्ति चेत्परिणामसमाप्तिर्गुणानामिति सूत्रोक्तिविरोधः । तथा "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि"ति श्रुतिविरोधश्चेति प्रश्नः । एतदुक्तं भवति । यद्यानन्त्यान्न परिसमाप्तिः संसारस्य हन्त भोः कथं महाप्रलयसमये सर्वेषामात्मनां संसारः सहसा समुच्छिद्येत कथं च सृष्ट्यादौ सहसोत्पद्येत, तस्मादेकैकस्यात्मनो मुक्तिमार्गेण सर्वेषां विमोक्षादुच्छेदः सर्वेषां संसारक्रमेणेति प्रधानपरिणामसमाप्तिः, एवं च प्रधानस्याप्यनित्यत्वप्रसङ्गः । न चापूर्वसत्त्वप्रादुर्भाव इष्यते, येनानन्त्यं स्यात्, तथा सति अनादित्वव्याहतेः सकलशास्त्रार्थभङ्गप्रसङ्ग इति भावः । उत्तरमाह अवचनीयमेतदिति । अविभज्य एकान्ततोऽनुत्तरार्हमेतद्वचनमित्यर्थः । पूर्वसूत्रे कृतार्थपुरुषं प्रत्येव परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानामित्युक्तं—नतु सामान्यतः इत्याशयः । उक्तप्रश्नस्योत्तरानर्हत्वं प्रतिपादयितुमादावुत्तरार्हं द्विविधं प्रश्नं दर्शयति भाष्ये—**अस्तिप्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यतीति** । अविभज्य नियत उत्तरार्ह इत्यर्थः । उत्तरं च ओं भोः इति । सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति द्वितीयो विभज्य वचनीयः प्रश्नः । विभागमाह प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो (अप्रत्युदिताविवेकख्यातिः) न जनिष्यते इतरस्तु (अकुशलः) जनिष्यत इति । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसी इति प्रश्नो विभज्य वचनीयः, यतः पशून् प्रति श्रेयसी देवानृषींश्चोद्दिश्य न श्रेयसीति । अयं तु विभज्य वचनीयः प्रश्नः संसारोयमन्तवानथानन्त इति । यतो गुणसृष्टिप्रलयप्रवाहोच्छेदानुच्छेदान्यतरावधारणे दोषः, न हि सामान्येन कुशलाकुशलपुरुषसंसारस्यान्तवत्त्वमनन्तत्वं वा एकान्ततः (नियमतः) शक्यते वक्तुम्—यथा प्राणभृन्मात्रस्य श्रेयस्त्वमश्रेयस्त्वं वा नैकान्ततोऽवधारितुं शक्यम्-यथा वा जातमात्रस्य मरणमेकान्तत इति । किंच उच्छेदे सृष्टिप्रवाहस्यानाद्यनन्तत्वबोधकशास्त्रबाधः अनुच्छेदे न कोपि मुच्येतेति, योगादिप्रतिपादकशास्त्रवैयर्थ्यमिति भावः । विभज्य पुनः शक्यमवधारणम्—कुशलस्यास्ति गुणकृतसंसारक्रमसमाप्तिर्नाकुशलस्येति, तस्माद् व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति । तस्मादुत्तरदानार्थमादौ विकल्पेन व्याख्येयोऽयं प्रश्न इति तदर्थः । तथाहि—यदि च गुणानां सृष्ट्याद्युच्छेदः पृच्छ्यते, तदा नास्तीति वक्तव्यम्—

अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते स्वर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥

इत्यादिवाक्येभ्यः सृष्टिप्रवाहस्यानादित्ववदनन्तत्वस्यापि सिद्धेः शुष्कतर्कस्याप्रयोजकत्वात् , अन्यथा संसारहेतुसृष्टस्य सर्वथैव सादित्वात्संसारस्यानादित्वमपि तर्कविरोधेन न सिद्ध्येत । भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिश्चेति श्रुतिश्च मायाख्यप्रकृतेः प्रलये व्यापारोपरमाख्यां निवृत्तिमेव वदति । एतेन सर्वेषां मुक्तिरप्रामाणिकीति सिद्धम् ॥ यदि पुरुषस्य संसारोच्छेदः पृच्छ्यते तदा कुशलस्यास्ति नाकुशलस्येति प्रश्नवाक्यं विकल्प्य प्रतिवचनं सम्भवतीति । अयमभिसन्धिः । यत्र क्रमेण मोक्षे सर्वेषां मोचात्संसारोच्छेद इत्यनुमानं तत्रागमसिद्धमोक्षाश्रयं तथा चाभ्युपगतमोक्षप्रतिपादकागमप्रमाणभावः कथमेवागमं प्रधानविकारनित्यतायामप्रमाणीकुर्यात् , तस्मादागमबाधितविषयमेतदनुमानं न प्रमाणम् । श्रूयते हि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु सर्गप्रतिसर्गपरम्परया अनादित्वमनन्तत्वं च (२)अपि च सर्वेषामात्मनां संसारस्य न तावद्युगपदुच्छेदः सम्भवति नहि कुशलानां पण्डितानामप्यनेकजन्मपरम्पराभ्यासपरिश्रमसाध्या विवेकख्यातिप्रतिष्ठा किं पुनः प्राणभृन्मात्रस्य स्थावरजङ्गमादेरेकदाऽकस्माद्भवतुमर्हति ।

---

(१) गुणेष्वलब्धपर्यवसानः परिणामक्रम इत्युक्तं तदसहमानः पृच्छति अथेत्यादि ॥

(२) यथा "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठे"त्यादि-अनादिर्भगवान् काल इत्यादौनिरुक्तस्मृत्यादिषु सर्गादिपरंपराया नित्यत्वमिति ॥

न च कारणायौगपद्ये कार्ययौगपद्यं युज्यते। क्रमेण तु विवेकख्यातौ सत्यामसंख्येयानां क्रमेण मुक्तौ न संसारोच्छेदो जन्तूनामसंख्येयत्वादिति सर्वमवदातम् ॥ ३३ ॥

गुणाधिकार(१)क्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

कृतकृत्यतया पुरुषार्थशून्यानां कृतभोगापवर्गाणां बुद्ध्यादिगुणानां यः प्रतिप्रसवः स्वकारणे प्रधाने लयः तेषां कार्यकारणात्मनां गुणनां व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारा मनसि लीयन्ते मनोऽस्मितायामस्मिता लिङ्गे लिङ्गमलिङ्गे इति योऽयं गुणानां कार्यकारणात्मनां प्रतिसर्गः प्रधानस्य कैवल्यं केवलत्वं यं किञ्चित्पुरुषं प्रति प्रधानस्य मोक्षः तेन पुरुषेण सह पुनरसंयोग इति यावत्। तथाच "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः, तरति लोकमात्मविदि" त्यादिश्रुतिसिद्धकैवल्यमात्यन्तिकप्रपञ्चोपरमरूपं मुक्तिलक्षणं सिद्धम्। पुरुषस्य वा मोक्ष इत्याह स्वरूपप्रतिष्ठेति। स्वरूपे प्रतिष्ठा यस्याः सा तथा चितिशक्तिरिति। पुरुषस्य पुनर्बुद्धिसत्त्वानाभिसंधानात्(२)या केवलाचितिशक्तिरूपता जपाद्यनुपाहितस्फटिकस्य स्वरूपप्रतिष्ठेव बुद्धिसत्त्वोपाधिकरूपशून्यतारूपा स्वरूपप्रतिष्ठा सा पुरुषस्य कैवल्यमित्यर्थः। तथाच "योहं वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती" त्यादिश्रुतिसिद्धं सुखादिरूपं द्वितीयं मुक्तिलक्षणं स्वरूपप्रतिष्ठेति। सौत्र इतिशब्दः शास्त्रपरिसमाप्ताविति ॥ ३४ ॥

मुक्त्यर्हचित्तं परजन्मचित्तज्ञासिद्धयो धर्मधनः समाधिः।
द्वयी च मुक्तिः प्रतिपादिताऽस्मिन् पादे प्रसङ्गादपि चान्यदुक्तम् ॥ १ ॥

इति श्रीबलदेवमिश्रकृतायां पातञ्जलसूत्रव्याख्यायां योगप्रदीपिकायां
कैवल्यनिर्देशो नाम चतुर्थः पादः॥
समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

---

(१) कैवल्यस्वरूपावधारणपरस्यावान्तरसंगतिमाह गुणाधिकार इति। गुणानामधिकारः परिणामविशेषः देहारम्भकं बलवत्प्रारब्धफलकं कर्मेति यावत् तत्क्रमस्य परिसमाप्तिः पर्यवसानमित्यर्थः।

(२) अस्ति हि महाप्रलयेऽपि स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिर्न चासौ मोक्षः सर्गादौ पुनरपि तस्या बुद्ध्यभिसन्धानादत आह पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसन्धानेति विशेषणमिति।

* श्रीः *

वर्णानुक्रमसूत्रसूची ।

